मेरे पिता
स्वामी श्रद्धानन्द

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति

सम्पादक
प्रो॰ स्वतंत्र कुमार,

प्रस्तुति
डा. जगदीश विद्यालकार

गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार - २४९४०४ (भारत)

पिता को आचार्य एवं पुत्र के रूप में जो इन्द्र ने देखा उसकी बराबरी तो कोई नहीं कर सकता। 'मेरे पिता' नामक यह पुस्तक पुत्र के पिता से जुड़े संस्मरणों का संग्रह तो है ही लेकिन आचार्य के व्यक्तित्व से जुड़े गुरुकुल का कीर्तिमान इतिहास भी उक्त पुस्तक में प्रतिबिंबित है।

पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति गुरुकुल के संस्थापक स्वामी श्रद्धानन्द जी के पुत्र थे, लेकिन उससे अधिक वे उनके शिष्य थे। वे इस रूप में स्वामी श्रद्धानन्द जी के विचारों के सच्चे संवाहक थे। उन्होंने अपने कर्मठ जीवन से न केवल गुरुकुल के गौरव को दिग् दिगन्तर तक फैलाया बल्कि अपने व्यक्तित्व की ऊर्जा से इस देश के साहित्य, संस्कृति, शिक्षा स्वदेशी, स्वतन्त्रता आंदोलन के क्षेत्र को भी गंभीर प्रभावित किया। उन्होंने जैसी आर्य समाज व वैदिक धर्म की जीतवनही मन से सेवा की वैसे ही राष्ट्रसेवा व स्वतन्त्रता आंदोलन में भी अपनी जीवन ऊष्मा से नवचेतना का संचार समाज में किया। उनकी संगठन क्षमता अद्भुत थी वे अपने पिता की तरह जीवन के कर्मक्षेत्र में कभी न थकने वाले अपने आदर्शों पर लोह पुरुष की भांति संघर्ष के लिए तत्पर रहते थे। *(प्रो. स्वतन्त्र कुमार, कुलपति)*

इतिहास, युगबोध और मानवीय संवेदना के आधार पर उच्च कोटि के संस्करणलेख के रूप में भी पण्डितजी को याद किया जाएगा। आर्यसमाजी लेखकों में हिन्दी संस्करण कला के प्रवर्तक थे आचार्य पद्मसिंह शर्मा। स्वामी श्रद्धानन्द पर लिखे उनके संस्करण का प्रभाव इन्द्र जी पर भी पड़ा। 'मेरे पिता' नाम से उनके संस्करण स्वामी श्रद्धानन्द जी पर ही छपे। 'मेरे पिता' के बाद, 'मैं इनका ऋणी हूँ' उनके संस्करणों का संकलन है। इसके अतिरिक्त 'दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन', 'मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव' तथा 'चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला' भी तीन फुटकर संस्करण हैं। स्वामी श्रद्धानन्द, तिलक, गाँधी जी, मोतीलाल नेहरू, मालवीय जी, शिवप्रसाद गुप्ता, सरदार पटेल, सुभाष, देवदास गाँधी, हकीम अजमल खाँ तथा प्रेमचन्द पर लिखे संस्करण उल्लेखनीय हैं। संस्करणों की भाषा प्रभावक और चरित्र-चित्रण मार्मिक है। *(आचार्य डा. विष्णु दत्त राकेश)*

पं. इन्द्र जी विरासत में उस पिता के पुत्र थे जिन्होंने गुरुकुल के लिए सर्वस्व न्यौछावर किया, उसमें चल अचल सम्पत्ति तो थी ही उसके साथ उसमें उनके दो पुत्रों का सर्वस्व समर्पण, और समर्पण की इस पहल से पैदा हुए अपूर्व व्यक्तित्व के धनी पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति, जिन्होंने अपने पिता को पिता कम लेकिन आचार्य के रूप में अधिक देखा। तभी तो महात्मा मुंशीराम इन को ज्येष्ठ शिष्य के रूप में अभिव्यक्त करते थे। पिता की खड़ाऊ से उनकी उपस्थिति का बोध इन्द्र ने कभी नहीं किया, बल्कि आचार्य के रूप में उनकी खड़ाऊ की उपस्थिति का बोध सहज रूप में इस शिष्य ने हमेशा जाना।

(आचार्य वेद प्रकाश शास्त्री, आचार्य एवं उपकुलपति)

मेरे पिता स्वामी श्रद्धानन्द

(श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति)

सम्पादक
प्रो० स्वतन्त्र कुमार

प्रस्तुति
डॉ. जगदीश विद्यालंकार

श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय
हरिद्वार-249404 (भारत)

मेरा अभिप्राय

'मैं यहाँ न औरों का इतिहास लिख रहा हूँ और न अपना जीवन-चरित्र। मैं उन घटनाओं और व्यक्तियों के चित्रों को अङ्कित करने का यत्न कर रहा हूँ, जिनकी पृष्ठभूमि में मेरे पिताजी का न्यूनाधिक सम्पर्क विद्यमान हो।'

—**मेरे पिता**, पृष्ठ संख्या 139

नामूलं लिख्यते किंचित्, नानपेक्षितमुच्यते।

त्वदीयं वस्तु हे तात,
तुभ्यमेव समर्पये।

—इन्द्र

विषय सूची

(१)

(२)

परिशिष्ट

प्रस्तावना

मैं श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति का अनुगृहीत हूँ कि उन्होंने मुझसे यह प्रस्तावना लिखने का आग्रह किया। मुझे प्रसन्नता तो यह होती है कि मुझे स्वामी श्रद्धानन्द जी को अंजलि देने का अवसर प्राप्त हुआ।

पिछले तीस वर्ष से भारतवर्ष बहुत तेजी से आगे बढ़ रहा है। नई घटनाओं की परम्परा ऐसी होती है कि स्वामी जी की महत्ता, उनके बलिदान की अपूर्वता, उनके पवित्र हृदय की आकांक्षाओं, जाति, धर्म और राष्ट्र की उनकी सेवा-भावना, साहित्यिक, सामाजिक और राजनीतिक विचारधाराओं और कार्यवाहियों का थोड़ा-सा विस्मरण हो गया है; किन्तु यदि भारत को महान् राष्ट्र होना है तो देश के विश्वकर्माओं का स्मरण नये ज़माने के सामने लाना होगा। इसलिए यह आवश्यक है कि स्वामी जी के पवित्र जीवन, उन की सेवा-भावना, उन की वीरता और कार्यदक्षता को हम हमेशा स्मरण रखें।

जिस युग में स्वामी जी ने अपना कार्य किया, उस युग में जो निडर नेता थे, उनमें स्वामी जी अग्रगण्य थे। जो नेता उत्साही थे, उनमें स्वामी जी आगे थे। जिन महापुरुषों ने ऋषियों के जीवन पर अपनी जीवन-चर्या बनाई, उनमें भी स्वामी जी अग्रगण्य थे।

वह युग तो लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, श्री अरविन्द, पण्डित मदनमोहन मालवीय और गाँधी जी जैसे महापुरुषों का था। उनमें स्वामी जी का भी स्थान है। वे तो वीर की तरह रहे और शहीद की तरह चले गए तथा भारत के सामने एक आदर्श-जीवन रख गए।

मुझे आशा है कि पितृ-ऋण अदा करने के लिए श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति ने जो स्नेहपूर्ण संस्मरण लिखे हैं, वे स्वामी जी की याद सजीवित रखेंगे।

—कन्हैयालाल मुंशी

सम्पादकीय

यशस्वी पिता के यशस्वी पुत्र पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति

आचार्य श्रद्धानन्द के जीवनचरित को प्रस्तुत करते हुए आज मुझे स्मरण हो रहा है, ८ नवम्बर, १६१३ का दिन जिस दिन ब्रिटेन के प्रधानमंत्री पी. रेम्जे मेकडानल्ड ने गुरुकुल का अवलोकन किया। स्वामी श्रद्धानंद के विलक्षण एवं भव्य व्यक्तित्व के सम्बन्ध में उनके उद्‌गार प्रत्येक आर्य बन्धु के लिए एक जाज्वल्यमान स्मृति के रूप में संचित रखने योग्य है। वे कहते हैं एक उन्नतकाय दर्शनीय मूर्ति (प्रभावपूर्ण सौन्दर्य की प्रतिमा) हमसे भेंट करने आती है। वर्तमान काल का कोई कलाकार यदि भगवान् ईसा की मूर्ति बनाने के लिए कोई जीवित मॉडल लेना चाहते तो मैं इस भव्य मूर्ति की ओर इशारा करूँगा। यदि कोई मध्यकालीन चित्रकार सेंट पीटर के लिए नमूना लेना चाहे तो मैं उसे जीवित मूर्ति के दर्शन करने की प्रेरणा करूँगा। ऐसे तेजस्वी आत्मिक ज्योति के पुंज बलिदानी महामानव के जीवन को जनता के सामने प्रस्तुत करते हुए गुरुकुल अपने पितामह को बारम्बार नमन कर रहा है।

महात्मा मुंशीराम संकल्प के धनी तथा कथनी व करनी की एकरूपता के साक्षात् उदाहरण थे। उनकी जीवनयात्रा का अवलोकन कर कोई भी यह जान सकता है कि वे विचारों को व्यवहार में लाने में, सपनों को जीवन में उतारने में अपना सबकुछ दाँव पर लगा देते थे। अन्तर्मानस का उनका तेजोमय व्यक्तित्व हमेशा बलिदान की आभा से दीप्त रहता था।

उनकी जीवनयात्रा का रेखांकन लाला मुंशीराम से प्रारम्भ होकर महात्मा मुंशीराम के रूप में प्रकट होता है और फिर आगे चलकर स्वामी श्रद्धानन्द के रूप में वे आध्यात्मिक ज्योति के ऐसे पुंज बन जाते हैं कि जो भी उनके सम्पर्क में आता है वह उनका दीवाना हो जाता है।

जीवनपरिवर्तन की यह सौगात उन्हें प्राप्त हुई ऋषि दयानन्द के दर्शन से और फिर तो उन्होंने जीवन को आर्य समाज की निधि ही मान लिया तथा मृत्युपर्यन्त वे बलिदान की इस ज्योति से आप्लावित रहे।

लेकिन पिता को आचार्य एवं पुत्र के रूप में जो इन्द्र ने देखा उसकी बराबरी तो कोई नहीं कर सकता। 'मेरे पिता' नामक यह पुस्तक पुत्र के पिता से जुड़े संस्मरणों का संग्रह तो है ही लेकिन आचार्य के व्यक्तित्व से जुड़े गुरुकुल का कीर्तिमान इतिहास भी उक्त पुस्तक में प्रतिबिंबित है।

पं. इन्द्र विद्यावचस्पति गुरुकुल के संस्थापक स्वामी श्रद्धानंद जी के पुत्र थे, लेकिन उससे अधिक वे उनके शिष्य थे। वे इस रूप में स्वामी श्रद्धानंद जी के विचारों के सच्चे संवाहक थे। उन्होंने अपने कर्मठ जीवन से न केवल गुरुकुल के गौरव को दिग्-दिगन्तर तक फैलाया बल्कि अपने व्यक्तित्व की ऊर्जा से इस देश के साहित्य, संस्कृति, शिक्षा स्वदेशी, स्वतंत्रता आंदोलन के क्षेत्र को भी गंभीर प्रभावित किया। उन्होंने जैसी आर्य समाज व वैदिक धर्म की तन-मन से सेवा की वैसे ही राष्ट्रसेवा व स्वतंत्रता आंदोलन में भी अपनी जीवन ऊष्मा से नवचेतना का संचार समाज में किया। उनकी संगठन क्षमता अद्‌भुत थी, वे अपने पिता की तरह जीवन के कर्मक्षेत्र में कभी न थकने वाले अपने आदर्शों पर लोह-पुरुष की भाँति संघर्ष के लिए तत्पर रहते थे।

हैदराबाद की निजाम सरकार ने जब आर्यसमाज पर प्रतिबन्ध लगाया, तो देश भर में इस प्रतिबन्ध के विरुद्ध चुने हुए आर्य समाज के प्रतिनिधियों को १९३० में सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा की बैठक में सरकार की आलोचना कर उन्होंने आर्यसमाज के उत्थान का बिगुल बजाया। १९४० में जब मुस्लिम लीग ने सत्यार्थप्रकाश पर प्रतिबन्ध लगाया तो वे इस प्रतिबन्ध का देश भर में विरोध करने के हेतु संघर्ष के लिए तैयार रहे।

उनकी कार्यक्षमता उनके जीवन से जुड़ी अनेक घटनाओं से दृष्टिगोचर होती है। चाहे उनकी भूमिका विरजानंद की मथुरा में जन्मशताब्दी मनाने की हो या गुरुकुल काँगड़ी के विकास का प्रसंग हो या वीर अर्जुन के सम्पादक के रूप में कार्य करने की हो या स्वतंत्रता के आन्दोलन के रूप में हो या आर्यसमाज के कार्य प्रचार की शृंखला में सेवक के रूप में हो, सभी प्रसंगों से पं. इन्द्र जी की योग्यता एवं क्षमता का बोध होता है।

हिन्दी पत्रकारिता में भी वे एक सुदीप्त शिखा की भाँति चमके। अपने समकालीन हिन्दी साहित्यकारों में अपनी छाप छोड़ी। उन्होंने सुप्रसिद्ध साहित्यकार भीमसेन, पं. रामगोपाल, दीनदयाल शास्त्री, पं. सत्यकाम, सत्यदेव विद्यालंकार, नरेंद्र विद्यावाचस्पति जैसे पत्रकारों का सृजन किया। उनकी पत्रकारिता का लोहा उस समय के सुप्रसिद्ध साहित्यकारो ने भी माना। सुप्रसिद्ध हिन्दी साहित्यकार एवं समालोचक डॉ. विजयेन्द्र स्नातक का कथन था कि पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति के हाथों में हिन्दी प्रेम का गान्डीव सदैव अर्जुन की तरह राष्ट्रीयता की रक्षा करेगा। इंद्र जी की साहित्य सृजनक्षमता साहित्य के विभिन्न आयामों में दृष्टिगोचर होती है। उनकी कलम का जादू संस्मरण, नाटक, उपन्यास, निबन्ध तथा आलोचना जैसी विभिन्न विधाओं में निहित है। जीवनचरित्र, आत्मकथा, ऐतिहासिक

संस्मरणलेखन में उनकी सहज सृजनार्थ, अभिव्यक्त शैली अपने में अद्वितीय है। इन्द्र जी की रचनाओं में अपने पिता स्वामी श्रद्धानन्द के आदर्शों तथा विचारों का समावेश प्रतीत होता है। वे एक ऐसे पिता की सन्तान थे, जो स्वाधीनता आन्दोलन में, जेल जाने के लिए अपने को हर समय तैयार रखते थे। अपनी जेलयात्रा में साहित्य सृजन करना, उनके खामोश व्यक्तित्व का एक बहुरंगी आयाम है।

राजनीति में उनका मुख्य प्रवेश लोकमान्य तिलक को देखकर हुआ। शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल काँगड़ी उनके जीवन का वास्तविक प्रयोग रहा। डॉ. विजयेंद्र स्नातक के शब्दों में "वे ऐसे संस्कारित पुरुष थे जिन्होंने गुरुकुल काँगड़ी के प्रथम छात्र; प्रथम स्नातक तथा प्रथम आचार्य एवं कुलपति के रूप में अपने पिता के यश को चारों दिशाओं में विस्तारित किया।"

पं. इंद्र विद्यावाचस्पति की कृति 'मेरे पिता' को आर्य जनता के सामने लाना गुरुकुल के कुलपति के रूप में मेरा प्रथम दायित्व है। इस पुस्तक से पहले अनेक प्रकाशनों से यह पुस्तक प्रकाशित की गई, परन्तु गुरुकुल द्वारा प्रकाशित इस पुस्तक के इस संस्करण में हमने स्वामी श्रद्धानंद जी के जीवन से सम्बन्धित अनेक प्रेरणाप्रद सामग्री को समाविष्ट किया है, जिससे पाठक सर्वतोमुखी लाभ उठा सकेंगे।

इस कृति में स्वामी श्रद्धानंद के जीवन से सम्बन्धित अनेक घटनाओं की झाँकियाँ हैं। स्वामी श्रद्धानंद के आचार्य इन्द्र विद्यावाचस्पति को लिखे अनेक पत्रों का संकलन, महात्मा गाँधी द्वारा पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति को लिखे अनेक पत्र, डॉ. राजेंद्र प्रसाद द्वारा इन्द्र जी को लिखे पत्रों का संकलन समाविष्ट किया गया है। इस प्रकार यह पुस्तक इस परिप्रेक्ष्य में और अधिक प्रासंगिक हो गई है। पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति के व्यक्तित्व पर डॉ. विष्णुदत्त राकेश जी द्वारा एक सारगर्भित विवेचना इस पुस्तक में समाविष्ट है, जिससे पाठक, विद्वान् इस रचना के कृतिकार को समग्र रूप से समझ सके।

पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति के जीवन में आशावादी तत्व, ईश्वरवादी मान्यताएँ, कठोर संकल्प की बुनियाद, दृढ़ इच्छा शक्ति की रेखाएँ अजस्र रूप से विद्यमान हैं। उनके पिता सवामी श्रद्धानंद ने जिस प्रकार राष्ट्र के लिए अपना सर्वस्व समर्पित किया, उसी प्रकार इन्द्र जी सदैव राष्ट्रसेवा में लगे रहे।

पं. इन्द्र जी ने सर्वजनहित के लिए अपना जीवन गुरुकुल के लिए समर्पित किया। उन्होंने अपने जीवन को आर्यसमाज की सेवा में लगाने का

जब संकल्प किया तो स्वामी श्रद्धानंद ने आत्मविभोर होकर कहा कि "मेरे शिष्यों में सबसे प्रिय शिष्य तुम ही हो, इस समय तुम ही मेरे इस संकल्प को पूरा करने की क्षमता रखते हो।" इससे अच्छा उदाहरण और क्या मिल सकता है कि एक पिता ने अपने पुत्र को अपने आज्ञाकारी शिष्य के रूप में स्थापित कर त्याग व बलिदान का पाठ पढ़ा कर दीक्षित किया।

पं. इन्द्र जी केवल साहित्यकार ही नहीं बल्कि राष्ट्रचिन्तक भी थे। राष्ट्र के प्रति कर्तव्य का बोध उनकी लेखनी में प्रवाहित रहता था और इस यज्ञ की पूर्ति में वे जीवनपर्यन्त लगे रहे। कुछ लोग उन्हें शिक्षाविद् मानते थे, कुछ विद्वान्, उन्हे गहन विचारक मानते थे, कुछ महानुभाव उन्हें साहित्यकार मानते थे और कुछ विद्वानों की राय में, वे सुलझे राजनीतिक थे, इन सबसे बढ़कर वे बलिदानी पिता की आभा से दीप्त प्रतिमान के रूप में उनकी विरासत को सम्हालने वाले एक सच्चे शिष्य थे।

अपने जीवन की सान्ध्य कालीन बेला में स्वास्थ्य से संघर्ष करते हुए उनहोंने अपने को गुरुकुल के कार्यों में व्यस्त रखा। गुरुकुल का सम्मृद्ध, उन्नत होना उनका साक्षी है। तीन छात्रों से प्रारम्भ होकर फैलते हुए इस पौधे को विशाल वट वृक्ष के रूप में विस्तारित होते उन्होंने गुरुकुल देखा। उन्होंने छात्रों को दीपक की रोशनी में पढ़ते हुए देखा, मिट्टी के तेल के लैम्प से प्रकाशित कमरों में विकसित छात्र जीवन को देखा।

उनकी साहितय रचना का संसार विस्तृत परिवेश में था, उनकी रचनाओं में उनके यथार्थ जीवन का बोध होता है। 'मेरे पिता' के रूप में लिखी उनकी यह पुस्तक उनके जीवनचरित्र में लिखने की शैली को अभिन्न रूप में प्रस्तुत करती है। उनके जीवनचरित्र लिखने की शैली सुबोध सरल व सहज है। उसमें धर्म, दर्शन, संस्कृति माधुर्य परम्परा का समुच्चय समिश्रण है।

वे उनके जीवन की किसी घटना का वर्णन स्थान, देश, परिवेश के आधार पर सजीव रूप में करते हैं, वे अपने को कभी अन्तर्द्वन्द्वों में नहीं छिपाते।

'मेरे पिता' नामक पुस्तक में उन्होंने रोचक शैली में स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन चरित्र को अपनी सहज सरल शैली से उकेरा है। एक जगह वे जीवन मनोविज्ञान के सम्बन्ध में लिखते हैं कि "मनुष्य के जीवन में ऐसा समय आता है कि जब वह अपने को एक चौराहे पर खड़ा पाता है। उस समय उसके लिए ठीक मार्ग का निर्णय करना कठिन हो जाता है। यदि ठीक समय, ठीक स्थान पर अच्छा मार्गदर्शक मिल जाता है, तो मनुष्य उलझन से निकलकर ठीक रास्ते पर चलता है। अन्यथा या तो उल्टे रास्ते

पर चल पड़ता है या दुविधा में फँस कर जीवन के अमूल्य अवसर को खो देता है। ठीक स्थान पर ठीक समय सच्चामार्ग दर्शक मिल जाए, यह अच्छे भाग्य से होता है। इसी से बड़े-बड़े पुरुषार्थवादी भी अन्त में प्रारब्धवादी होते देखे गए हैं।'' जिस प्रकार हम सीधी-सरल भाषा में बात कराते हैं। ठीक वैसे ही सीधी-सरल, सहज भाषा-शैली में उन्होंने अपने विचारों, भावों को पुस्तक में दर्शाया है। यह सन्देश भावप्रवणता 'मेरे पिता' में अनेक स्थलों पर देखने को मिलती है।

पं. इन्द्र जी विरासत में उस पिता के पुत्र थे जिन्होंने गुरुकुल के लिए सर्वस्व न्योछावर किया, उसमें चल-अचल सम्पत्ति तो थी ही उसके साथ उसमें उनके दो पुत्रों का सर्वस्व समर्पण और समर्पण की इस पहल से पैदा हुए अपूर्व व्यक्तित्व के धनी पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति, जिन्होंने अपने पिता को पिता कम लेकिन आचार्य के रूप में अधिक देखा। तभी तो महात्मा मुंशीराम इनको ज्येष्ठ शिष्य के रूप में अभिव्यक्त करते थे। पिता की खड़ाऊ से उनकी उपस्थिति का बोध इन्द्र ने कभी नहीं किया, बल्कि आचार्य के रूप मे उनकी खड़ाऊ की उपस्थिति का बोध सहज रूप में इस शिष्य ने हमेशा जाना।

इन्द्र जी के कलम की प्रमुख धार उनके साहित्य के सभी परिवेश में परिलक्षित होती है लेकिन महापुरुषो का जीवन चरित प्रर्णयन तथा संस्मरण लेखन की उनकी कला बेमसाल रही है। उन्होंने नेपोलियन, बोनापार्ट, प्रिंस बिस्मार्क एवं इटली के देशभक्त गैरी बाल्डी का जीवनचरित उस समय लिखा जब इस तरह के साहित्य सृजन के लिए कोई सामग्री ही प्राप्त नहीं होती थी। भारतीय महापुरुषों में सम्राट् रघु, पं. नेहरू तथा राष्ट्रपति डॉ. राजेन्द्र प्रसाद पर भी उनकी पुस्तकें प्रकाशित हुई। ऋषि दयानन्द का जीवनचरित भी उनकी लेखनी से लिखा अलग विशिष्टता लिए हुए था। 'मेरे पिता' में उनके संस्मरणों में इतिहास दृष्टि, देश तथा काल का यथार्थ चित्रण तथा उनकी अभिव्यक्ति की पैनी धार परिलक्षित होती है। गुरुकुल आज उनकी इस ऐतिहासिक कृति को प्रकाशित कर गौरवान्वित हो रहा है तथा हम यह आशा करते हैं कि गुरुकुल में पढ़नेवाले प्रत्येक छात्र को गुरुकुल में शिक्षा देने वाले प्रत्येक शिक्षक को तथा गुरुकुल से जुड़े प्रत्येक घटक को यह पुस्तक उपलब्ध कराई जाएगी जिसमें वे आचार्य पिता के जीवन को उनके पुत्र की लेखनी से समझ सके। इस पुस्तक का महत्त्व इसलिए भी है कि यह कृति गुरुकुल के समकालीन इतिहास को यथार्थ रूप प्रकट करती है। पुस्तक की सामग्री में कुछ परिशिष्ट जोड़े गए जिससे पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि हुई जिसके लिए पुस्तकालयाध्यक्ष डॉ.

जगदीश विद्यालंकार ने इस सामग्री को एकत्रित कर इस ग्रन्थ की शोभा बढ़ाने में जो सहयोग दिया इसके लिए उनको आशीर्वाद।

यह ग्रन्थ अधूरा रहता यदि इसमें सुप्रसिद्ध साहित्यकार एव्र प्राच्य विद्याओं के विख्यात विद्वान् आचार्य विष्णुदत्त राकेश जी की सारगर्भित प्रस्तावना का समावेश नहीं होता। वे ४० वर्षों से अधिक अवधि के गुरुकुल के इतिहास के साक्षी भी रहे हैं तथा गुरुकुल के संस्थापक स्वामी श्रद्धानंद तथा उनके पुत्र पं. इन्द्र विद्या वाचस्पति के व्यक्तित्व एवं कृतित्व का गहन अध्ययन भी उन्होंने किया है। अधिकारी विद्वान् की प्रस्तावना हेतु उनका गुरुकुल आभार व्यक्त करता है।

यूँ तो स्वामी श्रद्धानंद जी के जीवनचरित को लिखने वाले पं. सत्यदेव वद्यालंकार, गुरु का जीवन लिखने योग्य भक्ति एवं शक्ति से अ्रतप्रोत थे। श्री विष्णु दत्त राकेश ने 'स्वामी श्रद्धानन्द सरस्वती' विनोदचन्द्र विद्यालंकार ने'स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व' ग्रन्थ का सम्पादन कर स्वामी जी के जीवन के विविध पक्षों पर प्रचुर सामग्री प्रस्तुत की है। श्रद्धानंद प्रकाशन केन्द्र से श्री रणजीत सिंह के स्वामी श्रद्धानन्द एवं समग्र व्यक्तित्व का प्रकाशन भी किया गया। अंग्रेजी में स्वामी श्रद्धानन्द जी के जीवन पर जे.टी.एफ. जोर्डन ने भी स्वामी श्रद्धानन्द के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को दिग्दर्शित करने का प्रयास किया है।

गुरुकुल के कुलपति के रूप में मेरी यह प्रारम्भ से ही इच्छा थी कि स्वामी जी की जीवनी उनके पुत्र एवं शिष्य इन्द्र द्वारा लिखी 'मेरे पिता' का प्रकाशन गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय द्वारा किया जाए तथा इसकी एक प्रति गुरुकुल में पढ़ने वाले प्रत्येक छात्र को प्रवेश के समय ही पढ़ने हेतु दी जाए, जिससे गुरुकुल में आने वाला प्रत्येक छात्र स्वमाी जी की जीवनयात्रा को उन्हीं के शब्दों में जान सके।

मैं आशा करता हूँ कि स्वामी जी की यह जीवनी छात्रों के जीवन में पूर्ण रच-बस सकेगी। स्वामी जी पर लिखा यह ग्रन्थ संस्मरण का तथा जीवनी कार का अद्भुत मिश्रण लिए हुए है जो रोचकता के साथ जीवन को जीने की नए अन्दाज में प्रेरणा देने वाला भी है।

प्रो. स्वतन्त्र कुमार
कुलपति
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय हरिद्वार।

भूमिका

साहित्यवाचस्पति पण्डित इन्द्र : सौ वर्षों के प्रयोगों और परम्पराओं के प्रतिमान

आचार्य डॉ. विष्णुदत्त राकेश

पद्मश्री डॉ. कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर ने पण्डित इन्द्र जी की जुझारु पत्रकारिता का संकेत करते हुए १४ जुलाई, १६३५ के 'विकास' के मुखपृष्ठ पर लिखा था कि आपके पत्र अर्जुन की दो हजार रुपये की जमानता क्वेटा सम्बन्धी लेखों के कारण जब्त कर ली गई है और अब उससे पाँच हजार रुपये की एक और जमानत माँगी गई है। आत्मविश्वास और आत्मसम्मान की रक्षा करते हुए भारतीय आजादी की लड़ाई लड़ने वाले एक पत्रकार का अंग्रेजी राज में इससे अधिक और क्या हश्र हो सकता था। पण्डित इन्द्र जी का पत्रकारिता के क्षेत्र में पदार्पण १६०६ से हुआ जब 'सद्धर्म प्रचारक' हिन्दी में निकलना शुरू हुआ। सद्धर्म प्रचारक मुख्यतः धार्मिक पत्र था पर उसमें तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों पर भी टिप्पणियाँ रहती थीं। उदाहरण के लिए १६०८ में तिलक जी की गिरफ्तारी के बाद स्वामी जी की टिप्पणियाँ तथा १६०६ में पटियाला के अभियोग पर दी गई टिपपणियाँ स्वामी जी की क्रांतिकारिता को प्रकट करती हैं। जनवरी १६१० के सद्धर्म प्रचारक में उद्धृत यह टिप्पणी अवलोकनीय है–'सरकार को याद रखना चाहिए कि दमन किसी भी धर्म की प्रगति को रोकने में सदैव असमर्थ रहा है तथा शहीदों का रक्त सदैव चर्च (धार्मिक संस्था) की नींव को शक्तिशाली बनाता है।'

२६ अगस्त, १६०८ के अंक में तिलक जी के निर्वासन पर लिखा–'मद्रास, बम्बई और बंगाल के प्रांत आजकल राजद्रोह के मुकदमों के घर बन रहे हैं। कहीं राजद्रोह के मुकदमे समाप्त हो गए हैं। कहीं अभी चल रहे हैं। राजद्रोह के मुकदमे संख्या में इतने अधिक हो गए हैं कि साधारण लोगों का तो कहना ही क्या है, सम्पादकों को भी सबका नोटिस लेना कठिन प्रतीत हो रहा है' इतना होने पर भी इन्द्र जी शुद्ध राजनीतिक पत्र निकालने के लिए बेचैन हो उठे। १६१८ में दिल्ली में हुए कांग्रेस अधिवेशन में उन्होंने दिल्ली से पत्र निकालने का निश्चय किया। १६१६ में विजय नामक पत्र निकाला। क्योंकि यह युग अंग्रेजी और उर्दू की पत्रकारिता का था अतः इसकी ग्राहक संख्या बहुत कम थी। पं. इन्द्र जी ध्येयनिष्ठ पत्रकार थे अतः

विजय को अशांति का वैतालिक बनाकर वह स्वतंत्रता संग्राम में कूद पड़े। 'विजय' दिल्ली के राजनीतिक जन-जागरण का चारण बना। प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण विजय बन्द हआ तो १९२४ की अप्रैल में अर्जुन निकाला। अंग्रेजी सरकार की कोप दृष्टि अर्जुन पर पड़ी और इंद्र जी को छह मास का कारावास भोगना पड़ा। १९३० में अपने सरकारविरोधी लेखों के कारण नौ मास का कारावास भोगना पड़ा। यह समय नमक सत्याग्रह का था। अर्जुन अंग्रेजी सरकार के साथ जूझ रहा था। बन्द कर दिया गया पर अर्जुन ने हार नहीं मानी। तीस वर्ष तक उठता-गिरता अर्जुन 'न दैन्यं न पलायनम्' की प्रतिज्ञा का गाण्डीव तत्परता में सँभाले रहा। अर्जुन के अग्रलेखों का जिस दिन संकलन-सम्पादन हो जाएगा उस दिन स्वाधीनता आन्दोलन में हिन्दी पत्रकारिता का अध्ययन करने वालों की निर्भीक, निःस्पृह तथा स्वतन्त्र पत्रकारिता का दस्तावेज उपलब्ध हो जाएगा। स्वदेश, प्रभा, प्रताप, सैनिक, अभ्युदय, विकास, ब्रजवासी, गढ़वाली, आज, स्वराज्य, समय, सुकवि, शक्ति, देशमित्र, अवध अखबार, चाँद, रण डंका, युद्धवीर, गणेश, हिन्दुस्तान तथा हंटर जैसे पत्रों के साथ विजय और अर्जुन का नाम गौरव के साथ जोड़ा जा सकेगा। खिलाफत एवं असहयोग आन्दोलन से लेकर स्वाधीन भारत तक का इतिहास अपनी विभिन्न समस्याओं के साथ विजय और अर्जुन में मुखरित है। हिन्दू-मुस्लिम साम्प्रदायिकता की समस्या निहित है, स्वदेशी आन्दोलन की ललकार है और उग्र विचारधारा तथा क्रांतिकारियों के पक्ष में अग्रलेख और टिप्पणियाँ हैं। १९१९ की 'होम पालिटिकल डिपार्टमेंट प्रोसिडिंग्स' से पता चलता है कि स्वामी श्रद्धानन्द और पं. इन्द्र ने किस प्रकार खिलाफत आन्दोलन में आर्यसमाज को सक्रिय किया। १९२१ में इन्द्र जी तथा सत्यदेव परिव्राजक अहमदाबाद कांग्रेस अधिवेशन में सम्मिलित हुए। असहयोग के दिनों में इन प्रखर सेनानियों के कारण गुरुकुल आन्दोलन का एक प्रमुख केन्द्र था। १९३० के सविनय अवज्ञा आन्दोलन में सर्वश्री देव शर्मा, भीमसेन, जयदेव, दीनदयालु, रामेश्वर, गुरुदत्त, पूर्णचन्द्र, वासुदेव, विश्वनाथ, सत्यदेव और धर्मवीर के साथ पण्डित इन्द्र अग्रणी थे। पण्डित जी जब नमक सत्याग्रह करने पर दिल्ली में गिरफ्तार हुए तो उनसे प्रेरित होकर गुरुकुल के स्नातकों ने सहारनपुर जाकर नमक कानून को तोड़ा। एक पत्र इस अवसर पर इन्द्र जी सहित उक्त बारह स्नातकों के हस्ताक्षरों से प्रसारित हुआ था। उसमें लिखा था—"हम सब गुरुकुल माता के पुत्रों की परीक्षा का समय आ गया है। आज हमारा देश अपनी सदियों की गुलामी से छूटने का संकल्प करके

विश्वविभूति महात्मा गाँधी के नेतृत्व में अन्तिम लड़ाई लड़ने के लिए उठ खड़ा हुआ है। क्या हम गुरुकुल के स्नातकगण इस अवसर पर पीछे रहेंगे? हमारे इस दिव्य राष्ट्रनेता का महान् संकल्प है कि अब हम पूर्ण स्वाधीनता पाकर ही जिन्दा रहेंगे? नहीं तो इस लड़ाई में मर मिटेंगे। इस पत्र को पाते ही गुरुकुल का ऐसा पुत्र एक भी नहीं रहना चाहिए जिसने अभी तक खद्दर पहनने का व्रत भी न लिया हो।'' पण्डित पूर्णचन्द्र तथा दीनदयालु शास्त्री इस आन्दोलन के नायक बने। यह सब लिखने का हमारा उद्देश्य यही है कि इन्द्र जी का दृष्टिकोण सर्वथा राष्ट्रीय था और यातनाएँ सहकर भी वह कर्तव्यपथ से विचलित होने वाले न थे। उनके सामने अमर शहीद यतीन्द्रनाथ दास का बलिदान था। वह इतने भावुक हो गए थे कि शहीदों की तरह मर-मिट जाना चाहते थे। उन्होंने लिखा—'हे अग्नि के पतिंगे, तुम तो चल दिए पर गजब कर गए, इस सूखे हुए जंगल में आग लगा गए। जलियाँवाला बाग ने वह आग नहीं लगाई थी जो तुमने लगा दी है। तुमने अपनी कुर्बानी से जो आग लगाई है वह आसानी से नहीं बुझेगी। वह ऐसी धधकेगी कि इसकी ज्वालाओं की ज्योति लंदन के पार्लियामेंट के हॉल पर दिखाई देगी। इसकी तपिश किंग जॉर्ज की आरामगाह में पहुँचकर वहाँ के निवासियों को बैचेनी कर देगी।'' पंजाबकेसरी लाला लाजपतराय की जीवनी में इन्द्र जी ने लिखा—'स्वतंत्रता का सुकुमार पौधा जिस पोषक पदार्थ पर पनपता है, वह पोषक द्रव्य शहीद का खून है। फाँसी लगाने वाले की रस्सी या जल्लाद की कुल्हाड़ी या बन्दूकची की गोली केवल व्यक्तिगत जीवन को बुझा देती है किन्तु इससे आगे यह एक और काम करती है और वह यह कि सामूहिक इच्छा को अधिक तीव्र और बलवती बना देती है।'

नवयुवकों में बलिदान, स्वातंत्र्य और राष्ट्ररक्षा की भावना कूट-कूट कर भरने के लिए उन्होंने जीवनी साहित्य का निर्माण किया। लोकमान्य तिलक, नेहरू, महर्षि दयानन्द, गेरीबाल्डी, बिस्मार्क, यतीन्द्रनाथ दास, लाला लाजपतराय तथा जीवन-ज्योति उनकी आदर्श जीवनियाँ हैं। जीवन-ज्योति में राम, कृष्ण, बुद्ध, नानक, प्रेमचंद, रवीन्द्रनाथ, डॉ. शान्तिस्वरूप भटनागर, वेंकटरमन, महात्मा गाँधी, डॉ. राजेन्द्रप्रसाद के आदर्श जीवन पर प्रकाश डाला गया है। राष्ट्र के इन संस्मरणीय पुरुषों के जीवनचरित्ररूपी मकरंद से परिचय कराना ही पण्डित जी का उद्देश्य रहा है। राजधर्म पाक्षिक के १ मार्च, १९७० के विशेषांक में संकलित उनके लेख की इन पंक्तियों से उनका उद्देश्य स्पष्ट हो जाएगा—'राष्ट्र के व्यक्तियों में राष्ट्र के प्रति अगाध प्रेम हो, जिसके

कारण वे किसी बड़े-से-बड़े प्रलोभन या भय के असर में आकर भी राष्ट्र के साथ द्रोह न कर सकें। विश्वास की सच्चाई, विश्वास के लिए मर-मिटने की भावना और सम्मान से जीवित रहने की प्रबल इच्छा—यह बल चरित्र के व्यावहारिक रूप है जिसका निर्माण आचार सम्बन्धी पवित्रता के आधार पर ही हो सकता है।' जीवन संग्राम में उतरने वाले प्रत्येक नौजवान के लिए यह दृष्टिकोण संबल होगा। महापुरुषों की जीवनी पथप्रशस्त करती हैं। स्वतंत्रता को एकमात्र लक्ष्य मानकर चलने वाले इन संघर्षशील चरित्रों से स्वतंत्रता की रक्षा करने की प्रेरणा मिलती है; वह प्रेरणा जो राष्ट्रीय जीवन और समाज में व्याप्त जड़ता को दूर करने का विवेक और साहस देती है।

हिन्दी में जीवनी साहित्य में स्वदेशी तथा विदेशी—दोनों परम्पराओं के महापुरुषों को नायक बनाया गया है। आर्यसमाजी लेखकों में लाला लाजपतराय ने शिवाजी की जीवनी उर्दू में लिखी जिसका बाद में हिन्दी में रूपान्तर हुआ। भाई परमानन्द ने बन्दा-बैरागी तथा हरविलास शारदा ने राणा सांगा का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया। पण्डित इन्द्र जी ने इस विधा को समृद्ध किया तथा स्वदेशी-विदेशी महापुरुषों का जीवन-चरित्र लिखकर वैविध्य भी प्रस्तुत किया। उनसे प्रेरित होकर सत्यदेव जी ने स्वामी श्रद्धानन्द की जीवनी लिखी। श्री रामगोपाल विद्यालंकार ने स्वामी श्रद्धानन्द और आचार्य रामदेव का जीवन-चरित्र तथा श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने स्वामी श्रद्धानन्द की आचार्य रामदेव का जीवन-चरित्र तथा श्री चन्द्रगुप्त वेदालंकार ने स्वातंत्र्यवीर सावरकर की रचना की। भूदेव विद्यालंकार की 'स्वाधीनता के पुजारी' इसी परम्परा की रचना है। इन सबके प्रेरक पण्डित इन्द्र ही कहे जा सकते हैं।

इतिहास, युगबोध और मानवीय सम्वेदना के आधार पर उच्च कोटि के संस्मरण-लेखक के रूप में भी पण्डित जी को याद किया जाएगा। आर्यसमाजी लेखकों में हिन्दी संस्मरण कला के प्रवर्तक थे आचार्य पद्मसिंह शर्मा स्वामी श्रद्धानन्द पर लिखे उनके संस्मरण का प्रभाव इन्द्र जी पर भी पड़ा। 'मेरे पिता' नाम से उनके संस्मरण स्वामी श्रद्धानन्द जी पर ही छपे। 'मेरे पिता' के बाद, मैं इनका ऋणी हूँ, उनके संस्मरणों का संकलन है। इसके अतिरिक्त दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन, मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव तथा चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला भी तीन फुटकर संस्मरण हैं। स्वामी श्रद्धानन्द, तिलक, गाँधी जी, मोतीलाल नेहरू, मालवीय जी, शिवप्रसाद गुप्त, सरदार पटेल, सुभाष, देवदास गाँधी, हकीम अजमल खाँ तथा प्रेमचन्द पर लिखे संस्मरण उल्लेखनीय हैं। संस्मरणों की भाषा

प्रभावक और चरित्र-चित्रण मार्मिक हैं उदाहरण लें—

'रोबीली सौम्यमूर्ति, शिष्टाचार से भरा हुआ मधुर स्वर। दूसरों के हृदय में घुस कर उनके भावों का चित्र ले लेनेवाली आँखें। बड़े-बड़े झगड़ालुओं को मैंने उनके कमरे में भीगी बिल्ली की तरह नरम होते देखा।' (हकीम अजमल खाँ)

'मैंने जुलूस तो सैकड़ों देखे परन्तु असली जोश और जीवित उत्साह मुझे शायद ही किसी में मिला हो। बाजारों में नरमुण्ड ही नरमुण्ड दिखाई देते थे। हरेक व्यक्ति तिलक महाराज की जय के नारों से आकाश फोड़ रहा था। जनता के कोलाहल से उनके चेहरे पर न विक्षोभ की झलक दिखाई देती थी और न जनता के सत्कारप्रदर्शन से होंठों पर मुस्कुराहट दौड़ती थी। उनके गंभीर तेजस्वी नेत्र और स्थिर निश्चिन्त निश्चल होठ न तूफान में हिलते थे और न प्रभात के पवन में खिलते थे। उनमें मातृभूमि की पराधीनता की भावना मानों फौलाद बनकर बैठ गई थी।' (लोकमान्य तिलक)

'मैंने अनुभव किया कि मैं अकेला रह गया। मेरे बड़े भाई पहले ही विलायत जाकर लापता हो चुके थे, पिता जी चले गए और अब इस तूफानी दुनिया में आकाश और पृथ्वी के बीच मैं अकेला लटकता रह गया। मन में वह भाव आते ही मेरा वह कृत्रिम धर्म और स्थिर भाव जाता रहा और आँसू मानों बाँध तोड़कर बह निकले।' (मेरे पिता) रेखा को सफलतापूर्वक उकेरा है, वहाँ उसके व्यक्तित्व के विधायक दुर्लभ गुणों और विशेषताओं को प्रभावक रूप में प्रस्तुत किया है। इन मार्मिक संस्मरणों के लेखन में उनका पत्रकार हावी रहा है। रिपोर्टिंग का आनन्द भी पाठकों को मिलता चलेगा।

गुरुकुल काँगड़ी के उपन्यासकार स्नातकों में पण्डित इन्द्र, डॉ. सत्यकेतु, श्री सत्यकाम, श्री सत्यपाल, विराज तथा आनन्दवर्धन के नाम उल्लेखनीय हैं। इन्द्र जी मुगल साम्राज्य और ब्रिटिशकालीन भारत के गम्भीर अध्येता थे। उन्होंने इतिहासकार के रूप में इन दोनों युगों पर महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लिखी हैं। 'शाहआलम की आँखें' लिखते हुए उनके सामने मुगल-साम्राज्य के पतन की मार्मिक कथा रही हैं जमींदार, सरला की भाभी, सरला, आत्मबलिदान तथा अपराधी कौन उनके अन्य उपन्यास हैं। शाहआलम आँखें कथ्य की दृष्टि से प्रभावक है पर कथासंयोजन और भाषागत शैथिल्य के कारण हल्का भी। यह उनका प्रथम उपन्यास है जो १६१८ में प्रकाशित

हुआ। आत्मबलिदान १९३४ में प्रकाशित हुआ और यह उनका अन्तिम उपन्यास है। प्रेमचन्द और प्रसाद के कथा साहित्य का इन रचनाओं पर गहरा प्रभाव पड़ा है। ऐतिहासिक उपन्यास की रचना करते हुए उन्होंने मुगल शासन सम्बन्धी इतिहासग्रन्थों का आधार भी लिया। ह्रासोन्मुखी हिन्दू सामंतवाद और मुगल साम्राज्य के पतनोन्मुख काल में तेजसिंह जैसे स्वाभिमानी राजपूत की अवतारणा कर स्वातंत्र्य-चेतना का सूत्रपात लेखक ने कियाँ तेजसिंह के व्यकितत्व का प्रस्फुटन उसके इन वाक्यों में होता है—'जो विदेशी है, वह जब तक मेरे देश की स्वाधीनता पर बन्धन डालता है, मेरा शत्रु है।' तेजसिंह और कमला का लालकिले पर आक्रमण इसका व्यंग्यार्थ है जो मानों संदेश देता है कि नर-नारियों को मिलकर ही आजादी की लड़ाई लड़नी है। गृहस्थ की भोगमयी दीवारों को लाँघकर नारी का राष्ट्रोंत्थान की बलिवेदी पर कुदने के लिए तैयार होना आर्यसमाज के नारी जागरण का ही एक हिस्सा कहा जा सकता है।

'जमींदार' में किसान-मजदूरों के शोषण और ग्राम्य-व्यवस्था के वैषम्य की कहानी कही गई है। शोषितवर्ग की दुरवस्था को देखकर पाठकों के मन में क्षोभ जांग्रतृ कराया गया है। इस उपन्यास की लेखनगत दृष्टि समाजसुधार कही जा सकती है। रूपचन्द्र और गजेन्द्रसिंह आततायी, विलासी, अकर्मण्य और धूर्त जमींदारवर्ग के प्रतिनिधि हैं। तुलसी और खुशियाँ शोषित, पददलित, हीनवर्ग के प्रतिनिधि हैं अन्याय और अत्याचार के विरुद्ध ये अन्त तक लड़ते हैं। रूढ़ियों और थोथी मान्यताओं से ग्रस्त हिन्दू समाज के भीतरी घात-प्रतिघात इस उपन्यास में सफलता के साथ चित्रित हैं।

'अपराधी कौन' मनोवैज्ञानिक उपन्यास है। इसका नायक उम्मेद शोषित मजदूर है तथा पूंजीवादी व्यवस्था की घिनौनी चक्की में पिसते हुए आम आदमी का प्रतिनिधि है। अनाथ बालक की परिस्थितिवश बढ़ती हुई उद्दण्डता का स्वाभाविक चित्रण किया गया है। वह किस तरह डाकू बनता है और डाकू बनाने में उसके समाज का क्या योगदान है? यही इस उपन्यास का विषय है। जेल में रहते हुए उम्मेद की रहमतुल्ला द्वारा की गई हत्या एक कारुणिक दृश्य उत्पन्न करती है। इस उपन्यास में जन्मना ऊँच किन्तु कर्मणा नीचे व्यक्तियों पर करारा व्यंग्य किया गयाहै। कन्नोजिया तिवारी ऐसे ही पात्र हैं जो जुआ खेलकर शराब पीकर, वेश्यागमन करके भी ब्राह्मण हैं और ऐसे शुद्ध ब्राह्मण कि कभी किसी के हाथ का बनाया भोजन तक नहीं करते। इस उपन्यास को पढ़ने से विधवा जीवन, धार्मिक आडम्बर, शिक्षाकी हीनता, निर्धनता और चारित्रिक कमजोरियाँ का सजीव परिचय

मिलता है। लेखक का कहना है कि अपराधी दण्डनीय नहीं, वे व्यक्ति दण्डनीय है जो निहित स्वार्थ के कारण ऐसी परिस्थितियाँ उत्पन्न करते हैं, जिनके दबाव से अपराधों का जन्म होता है।

'आत्मबलिदान' स्वतंत्रता संग्राम के परिवेश में रचित उपन्यास है। इसकी नायिका सरला १६३४ के बिहार भूकम्प से सक्रिय होती है तथा स्वयंसेवी रामनाथ तिवारी से मिलकर समाजसेवा के क्षेत्र में कूद पड़ती है। रामनाथ और सरला राजनीति में एक-दूसरे के पूरक हो जाते हैं सरला का तिरंगे झंडे के साथ 'करो या मरो' आन्दोलन का नेतृत्व राष्ट्रप्रेम की अद्‌भुत झाँकी प्रस्तुत करता है। यह भावना अपने चरमोत्कर्ष पर उस समय पहुँचती है जब सरला सेक्रेट्रियेट पर प्रदर्शन करती हुई अंग्रेज अफसर की गोली का शिकार बन जाती है। इस बलिदान से नारियों का स्वाधीनता संघर्ष सफल होता है। इस त्रासदी का चित्र इन्द्र जी के शब्दों में सुनिए—सरला देश पर हुतात्मा हुई, इससे बड़ा सौभागय किसी को क्या लि सकता है? साथ ही वह एक देशभक्त कहलाने वाले पुरुष के घोर अहंकार और हटीलेपन की शिकार हुई, इसमें भी सन्देह नहीं।' सविनय अवज्ञा आन्दोलन की पृष्ठभूमि पर रचित इस उपन्यास की कथा उनके जीवन के निकट की घटनाओं से बुनी गई है।

पण्डित जी के पास इतिहास की पैनी दृष्टि थी। आर्य समाज का इतिहास, भारतीय संस्कृति का प्रवाह, कौटिल्य का अर्थशास्त्र, प्राचीन भारत में स्त्रियों की स्थिति, मुगन साम्राज्य का क्षय और उसके कारण, भारतेतिहास, भारतीय स्वाधीनता संग्राम का इतिहास तथा भारत में ब्रिटिश साम्राज्य उनकी ऐतिहासिक कृतियाँ हैं। वैदिककाल से लेकर स्वतंत्र भारत तक के इतिहास पर उन्होंने लेखनी चलाई है। आर्य समाज क्योंकि भारतीय इतिहास के पुनर्लेखन पर बल दे रहा था। अतः भाई परमानन्द, पण्डित भगवद्‌दत्त, आचार्य रामदेव और पण्डित इन्द्र जी दत्तचित्त होकर इस कार्य में लगे। इन्द्र जी के इतिहासग्रन्थ अत्यंत खोजपूर्वक लिखे गए हैं भारतीय आर्य संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, दर्शन और वाङ्मय (ज्ञान, विज्ञान) की उपलब्धियों की जानकारी हिन्दी माध्यम से देकर ये इतिहास लेखक यह बतला रहे थे कि अंग्रेजी विद्वानों द्वारा लिखा गया या उनकी पद्धति पर भारतीय विद्वानों द्वारा लिखा गया इतिहास अपूर्ण और अशुद्ध है। उससे भारतीय गौरव का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। पाश्चात्य इतिहासज्ञों की मान्यताओं पर स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। पाश्चात्य इतिहासज्ञों की मान्यताओं पर स्वयं महर्षि दयानन्द ने प्रहार किया था। जयचन्द्र विद्यालंकार, सत्यकेतु

विद्यालंकार तथा हरिदत्त वेदालंकार ने इस परम्परा को आगे बढ़ाया। बाद में डॉ. सत्यकेतु जी ने इन्द्र जी के आर्य समाज के इतिहास की सर्वांग पूर्ति कई खण्डों मं आर्य समाज का बृहत् इतिहास लिखकर की। संस्कृत साहित्येतिहास के लेखन की परम्परा में उनका संस्कृत साहित्यानुशीलन भी मौलिक और उपादेय ग्रन्थ है।

पण्डित इन्द्र जी एक कुशल लेखक ही नहीं, बाग्मी वक्ता भी थे। उन्होंने वक्तृत्व कला पर एक पुस्तक 'आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति' भी लिखी जो वाचस्पति पुस्तक भण्डार, जवाहर नगर से प्रकाशित हुई। आर्य समाज में खण्डन-मण्डनात्मक साहित्य लेखन की समृद्ध परम्परा रही है। इन्द्र जी ने इस दिशा में भी कार्य किया। स्नातक होते ही उन्हें महामहोपाध्याय पण्डित गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी से शास्त्रार्थ करना पड़ा। आर्य समाज की प्रतिगामी विचारधारा के प्रतीकरूप में इस युग में पण्डित दीनदयालु शर्मा, ज्वालाप्रसाद मिश्र, अखिलानन्द शर्मा, अम्बिकादत्त व्यास तथा चतुर्वेदी जी आगे आए।

बहुधंधी होने के कारण बाद में पण्डित जी इस ओर से विरत हो गए।

एक लेखक, पत्रकार, इतिहासवेत्ता, स्वाधीनतासेनानी, शास्त्रार्थ महारथी तथा संस्कृत, हिन्दी, अंग्रेजी के पण्डित होने के साथ-साथ वह गुरुकुल विश्वविद्यालय के आधुनिककरण के प्रस्तोता थे। विश्वविद्यालय में विज्ञान और मानविकी के नवीन पाठ्यक्रमों का समावेश कराने तथा गुरुकुल की उपाधियों को राजकीय मान्यता प्राप्त कराने में उनकी विशेष भूमिका रही। वेद कला महाविद्यालय के साथ विज्ञान महाविद्यालय, आयुर्वेद महाविद्यालय तथा संग्रहालय की विशेष उन्नति हुई। वह गुरुकुल को विश्वविद्यालय का दर्जा दिलाना तथा संग्रहालय की विशेष उन्नति हुई। वह गुरुकुल को विश्वविद्यालय का दर्जा दिलाना चाहते थे पर यह कार्य डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार के कार्यकाल में हुआ। पण्डित सत्यव्रत जी के प्रबल उद्योग से गुरुकुल को विश्वविद्यालय का स्तर मिला। इन्द्र जी मुख्याधिष्ठाता होकर भी प्रायः दिल्ली रहते। उनके समय में विश्वविद्यालय की अन्तरंग व्यवस्था पण्डित धर्मपाल विद्यालंकार तथा आचार्य प्रियव्रत जी के हाथों में रही। १९३४ से १९६० तक का समय पण्डित इन्द्र जी के लिए गुरुकुलीय उत्थान के संकल्प का काल है। वह १९५२ में राज्यसभा के सदस्य मनोनीत हुए थे। संसद् और संसद् से बाहर उन्हें गुरुकुल की ही चिन्ता रहती। इस बीच भी उनकी कलम निष्क्रिय नहीं रही। हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति, स्वराज

और चरित्रनिर्माण, रघुवंश, किरातार्जुनीय, ईशोपनिषद्भाष्य, भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय और अस्त, मेरे पिता तथा भारत के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास १९५२ से ६० तक के ८ वर्षों के अन्तराल में लिखी गई रचनाएँ हैं। उन पर गाँधी जी का गहरा प्रभाव था।। आर्यसमाज और गाँधीयुग की मशाल उनके हाथों में अन्त तक रही। खादी जैसे उज्ज्वल विचारों के धनी उस महापुरुष का निधन २३ अगस्त, १९६० को हुआ।

गुरुकुलीय परम्परा और आदर्शों से निर्मित पण्डित इन्द्र जी को स्वामी श्रद्धानन्द जी अपना ज्येष्ठ शिष्य मानते थे, इसलिए नहीं कि उन्होंने अपने पिता के असिद्ध और भावी सपनों को पूरा करने का व्रत लिया था, अपितु इसलिए भी कि उनके जीवन का प्रत्येक तन्तु उनके आचार्यपिता की दिव्यप्रेरणा से निर्मित था। १९१६ में इन्द्र जी को स्वामी जी ने जो पत्र लिखा था, उससे इस कथन की पुष्टि हो जाती है–

मेरे प्यारे पुत्र,

तुम मेरे ज्येष्ठ शिष्य हो क्योंकि सबसे ज्येष्ठ शिष्य इस समय प्रवासी है। वह जब आएगा तो कुल के लिए यश दिलाता हुआ ही आएगा। परन्तु इस समय मेरे शिष्यों के ज्येष्ठ भ्राता तुम ही है। परमात्मा तुमको इस बोझ के उठाने के लिए बल देंगे।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी

मुंशीराम

गुरुकुल को इंद्र जी ने मात्र शिक्षण संस्था या भूमिखण्ड नहीं समझा। उनके मन में गुरुकुल के लिए वही भाव था जो एक पुत्र में अपनी माता के लिए होता है। वह इस पुण्यभूमि जननी के ममतामय आँचल में लिपट रहने के लिए प्रतिबद्ध थे। प्रवास में रहकर भी उनका मन-विहग उड़ता हुआ इसी नीड़ की ओर लौट आता था। अपने एक श्लोक में उन्होंने लिखा है–शीत बीत चला है, पलाश फूलने लगे हैं। भ्रमरों की गूंज से दिशाएँ अनुगुंजित हो चली हैं।

मलयानिल पाँखुरी के प्यालों से गंध-मकरंद उड़ाकर बहने लगी है। इस मौसम में कुलभूमि और कुलबन्धुओं को देखने के लिए मेरा मन अधीर हो उठा है।

अपगतवतिशीते पीतपीते वनान्ते,
मधुर कुलगीतैः पूर्यमाणेदिगन्तें
बहुल सुरभिसान्द्रे गन्धवाह प्रवाहे,
कुलभुवि कुलबन्धून् द्रष्टुकामोऽस्मि बन्धुः।

हिन्दू संस्कृति और चिन्तन में रचे-पगे होकर भी वह कभी अनुदार नहीं हुए। स्वाधीनता आन्दोलन में गंगा-यमुनी संस्कृति का जो प्रवाह उमड़ा, उसमें स्वामी जी की ही तरह इद्र जी भी एकजुट होकर खड़े रहे। खिलाफत आन्दोलन में स्वामी जी के नेतृत्व में हिन्दू-मुसलमान एक होकर लड़े। आर्यसमाज के लिए यह प्रगतिशील दिशा थी। महात्मा गाँधी स्वामी जी के इसीलिए प्रशंसक थे। स्वामी जी के बलिदान पर गाँधी जी ने जो पत्र इन्द्र जी को लिखा, उसमें इसी भावना को बनाए रखने की प्रेरणा थी। गाँधी जी के इस मन्त्र को पण्डित इन्द्र ने कभी विस्मृत न होने दिया। गाँधी जी ने लिखा था--

मैं यह भी चाहता हूँ कि जिस वीरता से पिता जी ने अपना कार्य किया, उसी वीरता के साथ तुम्र भी करते रहो और उनकी पवित्र स्मृति को सुशोभित रखो।'

इन्द्र जी ने अपने पिता की इस उज्ज्वल परम्परा को कभी विस्मृत नहीं होने दिया। सचमुच वह उत्तमर्ण पुत्र ही नहीं, योग्यतम शिष्य भी सिद्ध हुए। उनके जीवन का एक-एक क्षण देश, जाति और लोक के उद्धार गें लगा। वह कहा करते थे–

यावन्मे जीवितं लोके परमार्थय भवेत्प्रभो,
तावज्जीवितुमिच्छामि यावच्छक्नोमि सेवितुम्।

हिन्दी साहित्य सम्मेलन के साथ जुड़कर उन्होंने निःस्पृह भाव से हिन्दी प्रचार का कार्य किया। श्री गोस्वामी गणेशदत्त जी को एक बार सम्मान दिलाने के लिए वह चुनाव में जीतकर भी पीछे हट गए। श्री माखनलाल चतुर्वेदी, रामधारी सिंह दिनकर, सोहनलाल द्विवेदी, सुभद्राकुमारी चौहान, बालकृष्ण शर्मा नवीन, मुंशी प्रेमचन्द तथा राजर्षि पुरुषोत्तम दास टण्डन से उनका घनिष्ट परिचय था। हिन्दी के योग्य लेखक होकर भी वह हिन्दी आन्दोलनों की राजनीति से सदैव दूर रहे। हिन्दी साहित्य सम्मेलन के अधिकारियों ने उनकी अनन्य हिन्दीनिष्ठा के कारण उन्हें डॉ. भगवानदास, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, सेठ गोविन्ददास, श्रीमती महादेवी वर्मा तथा महापण्डित राहुल के साथ 'साहित्यवाचस्पति' की सर्वोच्च उपाधि से अलंकृत किया। उन्होंने पराधीन भारत की बेड़ियाँ काटने के लिए तत्पर बलिदानियाँ को प्रेरणा देनेवाले गीत लिखे। राष्ट्रीय काव्यधारा के इन गीतों की गूंज 'शीशबलि' देने वालों की रक्त-चेतना में झंकृत होती रही–

हे मातृभूमि तेरे चरणों में सिर नवाऊँ।
मैं भक्ति भेंट अपनी, सेवा में तेरी लाऊँ।।
माथे पै तू हो चन्दन, छाती पै तू हो माला।
जिह्वा पै गीत हो तू, मैं तेरा नाम गाऊँ।।
वह पुण्य नाम तेरा प्रतिदिन सुनूँ सुनाऊँ।
तेरे ही काम आऊँ, तेरा ही गीत गाऊँ।।
मन और देह तुझ पर बलिदान मैं चढ़ाऊँ।

स्मरण की इस वेला में

इक्कीसवीं सदी की ओर जाने वाली नई राहों के नए कदमों की जानकारी के लिए यह बताना क्या जरूरी नहीं है कि आजादी के दीवाने इस पंछी का जन्म महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के चहकते हुए आँगन में नवम्बर, को हुआ था। पंछी इसलिए कि अंग्रेजी जेल के सींखचों के भीतर, १६२६, १६३० तथा १६३२ में कैद रहकर भी उनके उत्साह और विश्वास के पंख नहीं टूटे। दमनचक्र में उसकी लेखनी को प्रतिबन्धित किया गया पर उससे दया की स्याही नहीं, अधिकार की आग निकली। जब वह सींखचों से बाहर निकला तो आजादी के क्षितिज खोजता रहा। रूढ़ियों और संकीर्णताओं में जकड़े समाज की आजादी का क्षितिज, राजनीतिक पराभव से मुक्ति का क्षितिज, सांस्कृतिक ह्रास की आत्महीनता से मोक्ष का क्षितिज तथा मानवधर्म की सम्प्रदायमुक्त धारणा का क्षितिज। उसने आजादी का स्वर्णविहान देखा और उसके ठीक तेरह वर्ष बाद रुग्ण जर्जर देह किन्तु स्वस्थ-निर्द्वन्द्व मन लेकर प्रभुतासम्पन्न, अखण्ड, समृद्ध और उन्नत देश तथा समाज के कल्याण का चिन्तन करता हुआ अनन्त नील निलय में विलीन हो गया। छायावादोत्तर हिन्दी कवि मोहनलाल महतो वियोगी की 'कावय मंजरी' की चार पंक्तियाँ इस अवसर पर मुझे रह-रहकर याद आ रही हैं--

भस्म रूप में परिणत होकर भी यदि तुझको पाऊँ मैं।
तो इस तुच्छ देह यौवन को पैरों से ठुकराऊँ मैं।

आचार्य डॉ. विष्णुदत्त राकेश
—पूर्व निदेशक मानविकी संकायाध्यक्ष
एवं निदेशक श्रद्धानन्द प्रकाशन केन्द्र
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय
तथा पूर्व सदस्य उत्तरांचल संस्कृत अकादमी
एवं उत्तराखण्ड संस्कृति, साहित्य एवं कला परिषद्

श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र की ओर से...

इतिहास की दृष्टि से समूचे समाज को बदलने वाले नायक स्वामी श्रद्धानन्द स्वप्न जीवी नहीं थे, बल्कि यथार्थ के धरतल पर बीहड़ जंगलों के मध्य शिक्षा के तपोवन गुरुकुल को स्थापित करके उन्होने एक महान् ऋषि की भूमिका का निर्वाह किया। वे समाज के शिल्पी थे। क्रान्तद्रष्टा शिल्पकार ने गुरुकुल के रूप में एक ऐसा साँचा बनाने का बीड़ा उठाया जो आगे आने वाली पीढ़ी को मार्गदर्शन प्रदान कर सके। देखते-ही-देखते गुरुकुल संस्कारों की एक ऐसी पौधशाला बन गई, जिसने भारत में नवजागरण का सन्देश भारत की आध्यात्मिक संपदा से ओत-प्रोत नवयुवकों की पांत खड़ा करके दिया। ऐसे स्वामी श्रद्धानन्द के पुत्र एवं शिष्य की लिखित जीवनी को आर्य जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हुए हम अपने पुरोधा स्वामी श्रद्धानन्द के ऋण को चुकाने में सफल होंगे। आशा है हमारे इस प्रकाशन से न केवल गुरुकुल के छात्र बल्कि देश की युवा पीढ़ी इस महानायक की यशस्वी जीवनी से प्रेरणा प्राप्त कर सकेगी।

स्वामी जी की यह जीवनयात्रा जहाँ चट्टान सदृश उनके अविकल संकल्प क बोध कराती हे, वहीं उनका जीवन छात्रों के प्रति वात्सल्य, समाज के हर वर्ग के प्रति करुणा एवं प्रेम से सरोबार अनुभूतियों का भी दिग्दर्शन कराता है। उनके जीवन की यह कहानी तल स्पर्शी, मर्मस्पर्शी तथा भावस्पर्शी है। आशा है प्रत्येक दृष्टि से प्रकाशन का यह प्रयास सफल रहेगा।

महात्मा गाँधी यह मानते थे कि आर्यसमाज का सर्वश्रेष्ठ कार्य गुरुकुल का संचालन है तथा इस शक्ति का स्रोत वे महात्मा मुंशीराम के महान् व्यक्तित्व के साथ जोड़ते थे। महात्मा गाँधी कहा करते थे कि बिना सरकारी सहायता के गुरुकुल जैसी विशाल संस्था का संचालन सिवाय मुंशीराम के करना असंभव है।

वे अपने जीवन में एक मात्र ध्येय रखते थे कि चाहे वे आज मृत्यु को प्राप्त हों या फिर कुछ काल के पश्चात् लेकिन न्याय के रास्ते से उन्हें कोई विचलित नहीं कर सकता इस आह्वान को उन्होंने मृत्यु-पर्यन्त निबाहा। यही तेज तो उनकी जीवन चेतना का अभिन्न अंग था।

ये महात्मा मुंशीराम ही हो सकते थे जिन्होंने अपने प्रसिद्ध पत्र

सद्धर्मप्रचारक जो जालंधर से उर्दू में छपता था, अपने हिन्दी-प्रेम के कारण किसी के द्वारा ध्यान आकृष्ट कराते ही एक ही रात में सद्धर्म प्रचारक का कलेवर उर्दू से हिन्दी में कर दिया। ऋषि मुंशीराम निर्णय करने में देर नहीं करते थे। समर्पण एवं सबकुछ न्योछावर करने में हर समय तत्पर रहते थे। भावुकता इतनी अधिक कि वक्त आने पर अपने ज़ीवन की परवाह नहीं की, चाहे वह समय अंग्रेजों के सामने संगीनों के साये में अपनी छाती खोलने का हो या फिर चाहे जामा मस्जिद में वेद-मंत्रों से व्याख्यान देने का हो या फिर धर्मन्तरण के विषय में आर्य सिद्धान्तों के पृष्ठ पोषण का प्रश्न हो, सबमें यह अकेला वीर डट जाता था, बिना जान की परवाह किए कर देता था, अपने को बलिदान पर्व के लिए तैयार। ऐसे देवमानव की जीवनी गुरुकुल के छात्र, भारत का युवा वर्ग, आर्य जनता ये सभी पढ़े-समझें, उनके जीवन की इस बलिदानी वीरभावना को अंगीकृत करें तो गुरुकुल का यह प्रयास निश्चय ही सफल होगा।

ऐसे ही संस्कारों की पौधशाला में आविर्भाव हुआ उस तेजोमय व्यक्तित्व का पुंज इन्द्र का जो जन्म से पुत्र होकर कर्म से आचार्य श्री का प्रथम शिष्य बना। इस ज्येष्ठ शिष्य ने पुत्र और शिष्य दोनों का धर्म निर्वाह कर गुरुकुल की विरासत को अपने जीवन के पुरुषार्थ से सिंचित किया। तन, मन एवं धन का समर्पण तो इन्द्र ने अपने पिता की छाया से सीख लिया तथा त्याग एवं बलिदान का संकल्प लेकर जब वे राष्ट्र जीवन में आगे बढ़े तो फिर पीछे मुड़कर नहीं देखा।

'मेरे पिता' पं. इन्द्र जी की ऐसी कृति है जिसमें इन्द्र जी ने इतिहास दृष्टि के साथ उन घटनाओं और व्यक्तियों के चित्रों का अंकित करने का यत्न किया, जिनकी पृष्ठभूमि में उनके पिता का न्यूनाधिक सम्पर्क रहा।

'मेरे पिता' पुस्तक की भाषा सहज सरल तथा दिल को स्पर्श करने वाली है। वर्णन शैली का नमूना देखे ''कच्चे रेतीले रास्ते का मालिक बैल है, घोड़ा नहीं। कच्चे और पथरीले रास्ते पर घोड़ा रो देता है। हम लोग उस रास्ते को बहुत आहिस्ता-आहिस्ता पार करते थे। प्रायः गाड़ियों से उतर कर पैदल चल देते थे।'' उनके शबदों की बानगी सीधी, सपाट तथा जीवन्त चित्रण खींचने में निपुण है। दृश्य का आंखों देखा वर्णन वैसा ही है जैसा प्रत्यक्षदर्शी का बोध हो।

स्वयं इन्द्र जी अपनी इस पुस्तक को संस्मरणप्रधान मानते हैं। उनकी

लिखी पुस्तक में रोचकता तो प्रकट होती ही है साथ ही चरित्र का स्वाभाविक चित्रण भी उनकी कलम से निःसृत होता है।

उन्होंने अपने पिता के इस जीवन-वृत्त में उन व्यक्तियों का भी प्रसंगानुसार उल्लेख किया है जिनका योगदान गुरुकुल के निर्माण में प्रारम्भ से उत्कर्ष तक रहा है। डॉ. चिरंजीव भारद्वाज, आचार्य रामदेव, आचार्य गंगादत्त जी, मास्टर गोवर्धन जी ऐसे ही कुछ नाम हैं जिनका उल्लेख इन्द्र जी ने अपनी इस पुस्तक में यथास्थान अंकित किया।

उन्होंने इस जीवन-वृत्त में गुरुकुल के इतिहास को भी परिवेश के अनुसार चित्रित किया है। गुरुकुल के बदलते स्वरूप का वर्णन करते हुए वे इस पुस्तक में जो शब्दचित्र प्रस्तुत कर रहे हैं उसका उदाहरण उन्हीं के शब्दों में देखें ''परिवर्तन-युग की समाप्ति पर हम गुरुकुलभूमि में फूस के घरों के स्थान पर महाविद्यालय की पक्की इमारतें खड़ी पाते हैं। कलेवर बदल चुका था, केवल आत्मा के प्रतिनिधि मुख्याधिष्ठाता महात्मा मुंशीराम जी गुरुकुल की निरन्तरता को कायम रख रहे थे।

स्वामी श्रद्धानन्द का गुरुकुल, जीवन जीने की पाठशाला है, यह गुरुकुल स्वामी श्रद्धानन्द की ऐसी प्रयोगशाला है जो जीवन को मूल्यों के साथ जोड़ता है, साहित्य और कला की सरिता इस गुरुकुल का प्रवाह है, संस्कृति का सरोवर इस गुरुकुल की धरोहर है।

महात्मा गाँधी अपनी आत्मकथा में स्वामी श्रद्धानन्द के व्यक्तित्व के विषय में अपने उद्गार व्यक्त करते हुए कहते हैं—''पहाड़ जेसे दीखने वाले महात्मा मुंशीराम के दर्शन करने और उनके गुरुकुल को देखने जब मैं गया तब मुझे बहुत शांति मिली। हरिद्वार के कोलाहल और गुरुकुल की शांति का भेद स्पष्ट दिखलाई देता था। महात्मा जी ने मुझ पर भरपूर प्रेम की वर्षा की''। जाज्वल्यमान व्यक्तित्व के इस प्रकाश को उनकी जीवनगाथा को उन्हीं के पुत्र एवं शिष्य के शब्दों में श्रद्धानन्दप्रकाशन के द्वारा जनमानस को भेंट करते हुए हमें अतीव प्रसन्नता हो रही है। मान्य कुलपति जी की प्रेरणा, प्रोफेसर ए.के. चोपड़ा, कुलसचिव के सहयोग, श्री डी.आर. खन्ना वित्ताधिकारी के धनावंटन से यह प्रकाशन डॉ. जगदीश विद्यालंकार की भाग-दौड़ से सुन्दर रूप में आपके सामने प्रस्तुत हो सका। आशा है समस्त छात्रसमुदाय इस पुस्तक को पढ़कर अपने जीवन को उन मूल्यों पर स्थापित करेंगे जिस पर स्वामी श्रद्धानन्द जी ने अपना जीवन होम कर दिया।

पुस्तक के अंत में परिशिष्ट सामग्री हमें डॉ. विनोदचन्द्र विद्यालंकार सम्पादित पुस्तक स्वामी श्रद्धानन्द : एक विलक्षण व्यक्तित्व तथा प्रो. स्वतन्त्र कुमार द्वारा सम्पादित पुस्तक महात्मा गाँधी और गुरुकुल से प्राप्त हुई है, उसके लिए गुरुकुल उनका आभार व्यक्त करता है।

प्रो. वेद प्रकाश शास्त्री

आचार्य एवं उपकुलपति तथा

निदेशक श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन

केन्द्र, गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालय

हरिद्वार।

पहला परिच्छेद

जब मैंने होश सँभाला

जब मैंने होश सँभाला, तब मैं अपनी तायीजी की गोद में पल रहा था। मैं अभी दो वर्ष का ही था कि मेरी प्रातःस्मरणीया माता का देहान्त हो गया। उनका नाम 'शिवदेवी' था। जब माता का देहान्त हुआ, तब हम चारों भाई-बहिन छोटे-छोटे थे। सबसे बड़ी बहिन वेदकुमारी जी आठ वर्ष की थीं। उनसे छोटी हेमकुमारी (पंजाबी में हेमकौर) छः वर्ष की थीं और हरिश्चन्द्र चार वर्ष के थे। मैं दो वर्ष का था और रोगी था।

माताजी हम सबको इस तरह छोड़ कर चली गईं, तो पिताजी के सामने बड़ा विकट प्रश्न खड़ा हो गया। उनकी आयु उस समय छत्तीस वर्ष की थी। पिताजी के तीन बड़े भाई थे। उनमें से सबसे छोटे भाई की पत्नी हमारी माताजी से बहुत प्रेम करती थीं। माताजी की मृत्यु के समय वह जालन्धर में ही थीं। माताजी ने मृत्यु से पूर्व हमारे हाथ तायीजी के हाथ में देते हुए कह दिया था कि, 'बहिन जी, मैं इन्हें आप के सुपुर्द करती हूँ।' तायीजी के अपनी कोई सन्तान नहीं थी। उन्होंने पूरे मातृभाव से हम लोगों को अपनी गोद में ले लिया। मैं सबसे छोटा था, इस कारण मुझे उनकी गोद की अन्य सब भाई-बहिनों से अधिक आवश्यकता थी। वह गोद मुझे मिल गई। यही कारण है कि जब मैंने कुछ होश सँभाला, तब अपने-आपको तायीजी की गोद में पाया। तायीजी का नाम 'जमुनादेवी' था। ताया जी का नाम आत्माराम था। माताजी की मृत्यु के पीछे वे दोनों जालन्धर में ही रहने लगे थे।

मैं बचपन में बहुत बीमार रहा। इस से तायीजी ने मेरे लिए बहुत कष्ट उठाए और इसीलिए उनका मेरे साथ वात्सल्य भी बहुत था। वस्तुतः वह वात्सल्य मोह की दशा तक पहुँच गया था।

मैंने जिस घर में होश सँभाला, उसकी कुछ चर्चा करना भी आवश्यक है। हमारे पूर्वपुरुष जालन्धर से लगभग बीस-बाईस मील दूरी पर तलवन ग्राम के निवासी थे। हमारे दादाजी यू० पी० में पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट की नौकरी से पेन्शन लेकर तलवन में मकान, मन्दिर आदि बनवाए थे। मुझसे बड़े भाई-बहिनों का जन्म तलवन में ही हुआ था। जब पिताजी ने वकालत करना आरम्भ कर दिया, तब परिवार जालन्धर आ गया और कचहरी के पास एक किराये के मकान में रहने लगा। मेरा जन्म उस कचहरी वाले मकान में हुआ था।

जालन्धर में आने के कुछ समय पश्चात्, पिताजी ने होशियारपुर के अड्डे के पास, अपनी कोठी बनानी आरम्भ कर दी। कोठी का स्थान बहुत खुला था और मुख्य सड़क के किनारे होने से सुविधाजनक था। जब मैं होश में आया, तब हम होशियारपुर की सड़क वाली कोठी में पहुँच चुके थे। पिताजी को स्वभाव से ही विशाल योजना बनाने का शौक था, यह बात उस कोठी की रचना से सिद्ध होती थी।

कोठी का नक्शा किले के ढंग का बनाया गया था। सड़क की ओर जो दीवार थी, उसके दोनों ओर कोनों पर गोलाई लिए हुए बुर्ज थे। दीवार के मध्य में बड़ा फाटक था। फाटक के अन्दर दाईं ओर अस्तबल था। अस्तबल में दो गाड़ियाँ, एक गाड़ी का घोड़ा, एक सवारी का घोड़ा और प्रायः दो गौएँ रहती थीं। एक बन्द गाड़ी थी, जो उस समय का फैशन था। उस समय की गाड़ियों का प्रचार अब बहुत कम हो गया है, क्योंकि पर्दे की प्रथा नष्ट होती जाती है। दूसरी गाड़ी गिग कहलाती थी, जिसे आजकल की बेबी कार का पूर्व रूप समझना चाहिए। उसे प्रायः मालिक स्वयं चलाता था। उसके पास एक साथी के बैठने की जगह रहती थी। दायें हाथ पर एक शानदार चाबुक लगा रहता था। साईस के लिए पीछे की ओर खड़ा होने का एक पायदान लगा रहता था। पिताजी कचहरी उसी में जाते थे। बन्द गाड़ी परिवार के काम आती थी। हमारे साईस का नाम नबीबक्श था। वह बहुत ही मिष्टभाषी और फरमाबरदार नौकर था।

फाटक के दूसरी ओर सद्धर्म-प्रचारक प्रेस और अख़बार का कार्यालय था। उस समय साप्ताहिक 'सद्धर्म-प्रचारक' उर्दू में निकलता था। वह पत्र पंजाब की आर्यसमाजों का मुख्य मिशनरी पत्र समझा जाता था। उसके अग्रलेख, धर्मोपदेश आदि पिताजी स्वयं लिखा करते थे। प्रेस के मैनेजर का नाम बस्तीराम था, जो पुराने ढंग की मुन्शी श्रेणी का एक बढ़िया नमूना था। कान में कलम लगा कर और आधे नाक पर ऐनक जमा कर जब वह हिसाब लिखने या प्रूफ देखने का काम करता था, तब प्रतीत होता था कि वह भी प्रेस की मशीन का एक पुर्ज़ा है; क्योंकि हाथ हिलाने के सिवा घण्टों तक और कोई चेष्टा उसके शरीर में नहीं दिखाई देती थी।

अस्तबल और प्रेस के बाद दूसरा बड़ा और सर्वथा बन्द होने वाला फाटक था, जिसमें एक खिड़की थी। दिन में प्रायः वह खिड़की खुली रहती थी, रात के समय वह भी बन्द हो जाती थी।

फाटक के अन्दर एक छोटी सी, परन्तु बाँकी वाटिका थी। वाटिका का पिताजी को बहुत शौक था। वाटिका में एक कुआँ था, जिसका पानी बहुत ठण्डा और स्वादु था। वाटिका में शौक की सभी चीज़ें थीं। घास का मैदान

था, फलों के पेड़ थे और सब्ज़ियों की क्यारियाँ थीं। घास के मैदान के चारों ओर बहुत सुन्दर फुलवारी थी। फुलवारी से लगता हुआ लम्बा-चौड़ा पक्का चबूतरा था, जिसके पश्चात् तीन मुख्य कमरे थे, जिनमें से एक बैठक, दूसरा दफ्तर और तीसरा शयनागार था। ये कमरे अन्य सब कमरों से ऊँचे और विशाल थे। इनकी सजावट भी बहुत बढ़िया थी।

वाटिका से दूसरा रास्ता हवेली में जाता था, जिसकी दो ड्योढ़ियाँ थीं। अन्दर की ड्योढ़ी दायें-बायें दो ओर खुलती थी, दाईं ओर की ड्योढ़ी रसोईघर में, और बाईं ओर की हवेली में ले जाती थी।

हवेली का नक्शा यह था कि बीच में चौकोर आँगन था, जिस के तीन ओर बड़े-बड़े कमरों की पंक्तियाँ बनी हुई थीं। यदि मैं भूलता नहीं तो प्रत्येक पंक्ति में कमरों की संख्या पाँच से कम नहीं थी। कमरे काफी बड़े-बड़े थे, पूरी संख्या या पूरा नाप बताना कठिन है, क्योंकि मुझे उस कोठी को छोड़े इस समय (1956 में) लगभग उनसठ वर्ष हो गए। आज से दस वर्ष पहले एक बार उसे देखने का शौक दिल में उठा था। आजकल वह एक बिरादरी का जञ्जघर है। गया तो था बड़े शौक से, परन्तु द्वार में घुसते ही हृदय पर ऐसा धक्का लगा कि आगे जाने की हिम्मत न हुई। वाटिका के स्थान पर छोटी-छोटी कोठरियाँ बनाई गई थीं, जिन से पुराना सपना टूट-सा गया और दुःखी दिल लेकर वापस आ गया। मुझे ऐसा अनुभव हुआ कि पिताजी ने जिस भावना से, बड़े प्रेम से बनाई हुई वह कोठी गुरुकुल को दान दी थी, गुरुकुल की स्वामिनी सभा उस भावना से उसकी रक्षा न कर सकी। यदि सभा उस कोठी की यथार्थ रूप में रक्षा करती, तो भारत के विभाजन के पश्चात् उसे कार्यालय के लिए दर-दर का भिखारी न बनना पड़ता। उन्हें बना-बनाया खूब शानदार कार्यालय मिल जाता, परन्तु सभा ने फूल को पत्तों के भाव बेच कर जहाँ भावना का तिरस्कार कर दिया, वहाँ अपनी भी हानि की। आवश्यकता होने पर उन्हें फूल तो क्या, पत्ते भी न मिले।

दूसरा परिच्छेद

तलवन की यात्रा

यह तो था पिताजी का शहर का डेरा, अब असली वतन का कुछ वृत्तान्त भी सुनिए।

हमारा वतन या मूल स्थान तलवन नाम के गाँव में था। जैसे मैं पहले लिख चुका हूँ, हमारे दादा लाला नानकचन्द जी उत्तरप्रदेश में पुलिस के बड़े अफसर थे। वे बनारस, बरेली आदि कई बड़े शहरों में पुलिस कोतवाल के पद पर रह चुके थे। वे नौकरी से रिटायर्ड होकर अपने गाँव में आकर रहने लगे थे। वहाँ उन्होंने हवेली, बैठक, मन्दिर आदि बनवाकर तलवन को अच्छा कस्बा बनाने में काफी हिस्सा लिया। उनके साथ ही हमारे तीनों ताया जी भी तलवन में ही रहने लगे थे। सबके रहने के अलग-अलग मकान थे और निर्वाह के लिए जमीनें थीं।

दादा जी की मृत्यु के पश्चात् भाइयों का बँटवारा हो गया। पिताजी सबसे अधिक पढ़े-लिखे थे और घर-भर में धर्मात्मा समझे जाते थे, इस कारण बँटवारे का काम मुख्य रूप से उन्हीं के सुपुर्द किया गया। पिताजी की तबीयत के व्यक्तियों की यह विशेषता होती है कि बँटवारे जैसे मामलों में स्वयं हानि उठाने को न्याय का कार्य समझते हैं। इस बँटवारे में भी ऐसा ही हुआ। चारों भाइयों में मकान, जमीन और नकद का जो बँटवारा हुआ, उसमें पिताजी ने सबसे घटिया हिस्सा लिया। अन्य भाइयों को अलग-अलग मकान मिले, पर हमें बड़ी हवेली का एक हिस्सा मिला था। पिताजी कहा करते थे कि मैंने तो जालन्धर में मकान बना लिया है, मुझे तलवन में बड़े मकान की आवश्यकता भी क्या है!

तलवन में तीन तरह की आबादी थी। जिस भाग में हमारे मकान थे, उसे कस्बे का समृद्ध भाग कहा जा सकता है। पक्के मकान थे, और उनमें से गुज़रने वाली गली भी पक्की थी। दो कुएँ थे और एक मन्दिर था। कस्बे के दूसरे भाग में बाज़ार था। बाज़ार में कामलायक सभी चीज़ें मिल जाती थीं। तीसरे भाग में काश्तकार या मुजाएरे रहते थे, जो उस समय प्रायः सभी अराईं मुसलमान थे। कस्बे की जमीनों के स्वामी अधिकतर ब्राह्मण और खत्री थे और मुजाएरे मुसलमान, जो बस्ती के बाहरी भाग में रहते थे।

यह है संक्षेप में उस समय के तलवन का परिचय। वर्ष में कम से कम एक बार और आवश्यकता पड़ने पर अधिक बार भी सारा परिवार वहाँ जाए

करता था। उसी को मैं तलवन-यात्रा कहता हूँ, क्योंकि हम बच्चों के लिए वह तीर्थ-यात्रा से कम महत्त्व नहीं रखती थी। यात्रा तो बीस-बाईस मील की ही थी परन्तु उसकी तैयारी ऐसी धूमधाम से होती थी, जैसे हरिद्वार या बनारस जाने का विचार हो।

लीजिए, उस साल की तलवन-यात्रा का यथासम्भव पूरा विवरण सुनिए। यथासम्भव इसलिए कहता हूँ कि सम्भव है, लगभग 60 वर्ष पुरानी घटना की कुछ बातें याद से रह जाएँ।

तायीजी ने यात्रा के दिन से कई दिन पहले आयोजन प्रारम्भ कर दिया था। हवेली के बायें कोने में एक गोदाम का कमरा था, जिसमें दो हाथ की चक्कियाँ लगी हुई थीं। तायीजी प्रतिदिन प्रातःकाल 4 बजे उठ कर दिन-भर के लिए आटा-दाल आदि पीस लेती थीं। मुझे याद है कि छोटी उम्र में शायद ही कोई प्रभात ऐसा होता हो, जिसमें हमने आँखें खुलते ही चक्की की आवाज न सुनी हो। प्रायः हमारी बड़ी बहन वेदकुमारी जी भी पिसाई के काम में ताई जी का साथ दिया करती थीं। जब तलवन जाने का समय पास आता था, तब कुछ फालतू पिसाई की जाती थी। चक्की का तार-स्वर देर तक सुनकर हम समझ जाते थे कि तलवन की तैयारियाँ हो रही हैं।

यात्रा से पहली रात खाना बनाने में व्यतीत होती थी। तायीजी यात्रा के लिए दूध के पराँवठे बनाया करती थीं। वह मानो यात्रा का विशेष अनुपान था। हम लोगों को उनका बेहद शौक था। साथ के लिए आलू की सब्जी, दही आदि की योजना होती थी।

यात्रा के दिन सब लोग ब्राह्म-मुहूर्त से भी पहले उठते थे, क्योंकि सूर्योदय से पहले ही चल देने का नियम था। झट उठे और नहा-धोकर और कपड़े पहन कर सन्नद्ध हो गए। तब तक दोनों घोड़ागाड़ियाँ तैयार होकर सड़क पर निकल आती थीं। गाड़ियों में बैठने की यह व्यवस्था थी कि बन्द गाड़ी में शेष सब बच्चों को लेकर तायीजी बैठ जाती थीं, और मेरे बड़े भाई हरिश्चन्द्र या तो पिताजी के पास गिग में बैठते थे अथवा पौनी (छोटे घोड़े) पर बैठ कर साथ-साथ चलते थे। मैं तो तायीजी के पास ही रहता था। हम लोगों के साथ, दो बड़ी बहिनों के अतिरिक्त एक और भी लड़की थी जो पिताजी के एक मित्र की पुत्री थी। वह कन्या महाविद्यालय में पढ़ने के लिए जालन्धर में हम लोगों के साथ रहती थी।

इस तरह पूरी तरह तैयार होकर काफिला सूर्योदय से पहले ही चल देता था। दोपहर से पहले हम लोग नूरमहल के पास पहुँच कर एक बगीचे में ठहर जाते थे। बगीचे में कुआँ था, जहाँ घनी छाया वाला एक पेड़ था। दरी, चाँदनी बिछा कर वहाँ भोजन और आराम की व्यवस्था होती थी। एक

नौकर था, जो शायद पाँच या छह साल की आयु से हमारे यहाँ आया था। उस का नाम 'रणुआ' था। वह बुढ़ापे तक पिताजी के साथ ही गुरुकुल काँगड़ी में जाकर भोजन-भण्डार में काम करता रहा। गुरुकुल की सेवा में ही उसकी मृत्यु हुई। उन दिनों वह लड़का ही था। वह परोसता था और हम खाना खाते थे। खाना खाकर घण्टे-दो घण्टे आराम करते और फिर कच्चे रास्ते पर पड़ जाते थे।

कच्चे रेतीले रास्ते का मालिक बैल है, घोड़ा नहीं। कच्चे और पथरीले रास्ते पर घोड़ा रो देता है। हम लोग उस रास्ते को बहुत आहिस्ता-आहिस्ता पार करते थे। प्रायः गाड़ियों से उतर कर पैदल चलने लगते थे। इस कारण गाँव तक पहुँचने में हमें बहुत समय लग जाता था। कभी-कभी तो रात पड़ जाती थी।

जिस यात्रा का यह वृत्तान्त है, उसकी एक घटना बहुत स्मरणीय है, जिसे विस्तार से सुनाने का प्रलोभन संवरण करना कठिन है। वह घटना भूतों से सम्बन्ध रखती है। नूरमहल और तलवन के लगभग मध्य में बैलगाड़ी के रास्ते से कोई फर्लांग-भर हट कर एक टूटी हुई सराय थी। वह न जाने कब से खण्डहर की शक्ल में पड़ी थी। मशहूर था कि उस खण्डहर में भूतों और चुड़ैलों का डेरा है। साँझ पड़ने के पश्चात् कोई अकेला आदमी उसके पास से नहीं गुज़रता था। जब हम लोग उस टूटी सराय के पास पहुँचने लगे तो पिताजी ने हम दोनों भाइयों को गाड़ी से नीचे उतार लिया। हमारे हाथों में अपनी दोनों ओर की अंगुलियाँ पकड़ा दीं और खण्डहर की ओर ले चले। पिताजी कट्टर आर्यसमाजी बन चुके थे। वे भूतों को बिल्कुल नहीं मानते थे। हमें वे यह कहकर ले चले कि 'चलो तुम्हें दिखाएँ, वहाँ कोई भूत-प्रेत नहीं रहता—भूत-प्रेत की बात सब झूठ है।' पूर्णिमा की रात थी, चाँदनी खूब छिटक रही थी, जिससे वह खण्डहर रास्ते से दिखाई दे रहा था। तायीजी ने बहुत रोका कि बच्चों को वहाँ मत ले जाओ, पर हम लोगों का शौक सीमा को पार कर रहा था और पिताजी तो हमारा डर हटाना ही चाहते थे, वे हमें लेकर सराय की ओर चल दिए।

कुछ दूर जाकर हमने देखा कि एक आदमी कन्धे पर बहँगी उठाए सराय की ओर हमारे बीच की पगडण्डी पर से जल्दी-जल्दी पग उठाता हुआ गाँव की ओर जा रहा है। पिताजी ने उसे पहचान लिया। वह हमारे गाँव का कहार था। पिताजी ने सहज स्वभाव से ऊँचे स्वर से उसका नाम पुकारा। बस, पिताजी का पुकारना था कि वह बेचारा चक्कर खाकर धड़ाम से जहाँ था, वहीं गिर गया और उस की बहँगी की चीज़ें रेत में चारों ओर बिखर गईं।

उसे गिरा देख कर पिताजी बहुत तेजी से उसके पास पहुँचे तो क्या देखते हैं कि वह बिल्कुल बेहोश पड़ा है। हाथ लगाकर देखा तो उसका शरीर तमतमा रहा था। उसे बहुत जोर का ज्वर चढ़ गया था। पिताजी ने अपने कोचवान को आवाज देकर वहाँ बुलाया और बेचारे कहार को किसी तरह उठाकर गाड़ी में डाल लिया। हम सब पैदल ही गाँव की ओर चल दिए।

रास्ते में पिताजी हम लोगों को भूत-प्रतों की कहानियाँ सुनाते गए। उस बेचारे की दशा पर वे बहुत ही दुखित थे।

आधी रात के समय पैदल काफिला गाँव में पहुँचा। कहार को बेहोशी की हालत में ही उसके घर पहुँचा दिया गया।

घर पहुँचने पर कहार का बुखार बहुत बढ़ गया और साथ ही डिलीरियम शुरू हो गया। वह बेहोशी में आँखें फाड़ कर देखता और चिल्लाता था। उसके चिल्लाने से यह भान होता था कि वह किसी भयानक मूर्ति को देख रहा है। वह चिल्लाता था कि डायन की आँखों से आग निकल रही है, लाल-लाल जीभ मुँह से बाहर दिखाई दे रही है और उसके पाँव पीछे की ओर हैं। जब वह ऐसी बेहोशी की बातें करता, तब पिताजी उसके सिर पर हाथ रखकर समझाते कि यह सब झूठ है, वहाँ हम भी थे, वहाँ तो कोई चुड़ैल नहीं आई तो वह जवाब देता था कि 'थी कैसे नहीं! मुझे उसने नाम लेकर बुलाया।'

दूसरे दिन उसका बुखार कम होने लगा और कुछ होश भी आया तो पिताजी ने उसे बहुत समझाया कि 'तुझे किसी चुड़ैल ने नहीं पुकारा था, आवाज देने वाला तो मैं था।' तो भी उसे यह विश्वास नहीं हुआ कि वह चुड़ैल नहीं थी। वह अन्त तक यही कहता रहा कि मैं अपनी बहँगी लिए जल्दी-जल्दी चला जा रहा था कि मुझे अपना नाम सुनाई दिया। ज्यों ही मैंने उधर देखा तो सामने से आती हुई एक भयानक चुड़ैल दिखाई दी, जो मुझे खाना चाहती थी। बस, उसी को देख कर मैं बेहोश हो गया।

तलवन उस समय पुराने विचारों का ज़बर्दस्त गढ़ था और अब तक भी वहाँ नवीन प्रकाश ने पूरी तरह प्रवेश नहीं क़िया। कुछ थोड़े से लोगों को छोड़ कर शेष सब ने यही मानना उचित समझा कि कहार ने वस्तुतः चुड़ैल को ही देखा था। पिताजी की बात पर उन्हें पूरा विश्वास नहीं हुआ। उन्होंने समझा कि यह तो सनातन-धर्म के विरोधी बन गए हैं, इस कारण चुड़ैल का खण्डन करने के लिए बात घड़ रहे हैं।

तीसरा परिच्छेद

पिताजी की घर-गिरस्ती

जब मैंने होश सम्हाला तब से लगभग पाँच-छह साल तक पिताजी की घर-गिरस्ती कैसी रही, इस का थोड़ा सा चित्र इससे पूर्व के परिच्छेद में दिया जा चुका है। इन दिनों पिताजी का गृहस्थ राजा जनक के राज्य जैसा था। पिताजी गृहस्थ में रहते हुए भी गृहस्थ से बाहर रहते थे। उनका शयनगृह हम लोगों से बिलकुल अलग था। सब बच्चे तायीजी के पास सोया करते थे। पिताजी का शयनगृह हमारे लिए एक बन्द मन्दिर के समान था। जब कभी उस में आँख बचा कर घुस जाते थे, तब आश्चर्य से सब चीज़ों को देखा करते। थोड़ी मात्रा में किसी चीज़ का रखना तो पिताजी की तबीयत में था ही नहीं। कपड़ों की एक बड़ी अलमारी थी। ऐसा याद आता है कि उस में बड़ी-बड़ी चालीस-पचास दराजें होंगी। एक में कौलर थे—कोई चालीस या पचास। दूसरे में नकटाइयाँ ही नकटाइयाँ थीं। वह भी लगभग चालीस-पचास। तीसरे में इसी संख्या में रूमाल थे। पाठक चालीस-पचास की संख्या की पुनरावृत्ति देख कर शायद हँसेंगे, परन्तु उन्हें याद रखना चाहिए कि ये बहुत छोटे बचपन की स्मृतियाँ हैं। न तो हमने उस समय गिनती की थी और न नोट ही किया था। ध्यान में बैठा हुआ है कि उस कमरे में कुछ भी कम नहीं था। सब चीज़ों की संख्या चालीस-पचास के लगभग होगी। एक सुन्दर सी सन्दूकची थी, जिसमें तरह-तरह के तेल और सुगन्धित पदार्थों की शीशियाँ रखी हुई थीं। बहुत दिनों तक उस सन्दूकची को खोलने की हिम्मत नहीं हुई। हम चारों भाई-बहिनों में हरिश्चन्द्र जी साहसिक थे। हम लोगों का विचार था कि पिताजी के लाड़ले होने के कारण वे डरते भी नहीं थे। एक दिन बहुत सी मानसिक तैयारी के बाद हरिश्चन्द्र जी ने उस सन्दूकची को खोल ही डाला। हम लोग बड़ी उत्सुकता से देखने लगे कि अन्दर क्या है। देखा कि उसमें भी छोटे-छोटे लगभग चालीस-पचास खाने हैं। हर एक खाने में छोटी-छोटी और सुन्दर रूप वाली रंग-बिरंगी शीशियाँ रखी हुई हैं, जिनमें से प्रत्येक में से जुदा-जुदा खुशबू आ रही है। इसी तरह की आकर्षक सामग्री से वह कमरा सजा हुआ था। परन्तु जहाँ तक मुझे याद है, उन दिनों में भी हम लोगों ने कभी पिताजी को सुगन्धित तेल लगाकर बाहर जाते नहीं देखा। मैं समझता हूँ कि वह सब सामग्री पिताजी के पूर्व जीवन का अवशेष थी, जिसे उन्होंने हमारी माताजी के स्मृतिरूप में ही सुरक्षित रख छोड़ा था।

पिताजी हम लोगों के उठने से बहुत पहले उठ कर बाहर चले जाते थे। जाने की सूचना हम लोगों को उनकी खड़ाऊँ की आवाज से मिलती थी। खड़ाऊँ की आवाज में एक अद्भुत विशेषता थी, जिसका अनुभव केवल हम ही लोगों को नहीं हुआ, गुरुकुल कांगड़ी के उन सब ब्रह्मचारियों को भी हुआ, जिन्होंने पिताजी के आचार्यत्व काल में गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त की थी। उन लोगों के लिए खड़ाऊँ की वह आवाज एक विशेष सन्देश लाती थी। वह निराश को आशा देती थी, उपद्रवी पर आतंक बिठा देती थी और कुलवासियों को यह सूचना दे देती थी कि इस घर का कोई मालिक है। बचपन में हमारे लिए वह आवाज एक सन्देश देने वाली होती थी। उस आवाज को सुनकर हम बच्चों को यह अनुभव होता रहता था कि हमारे पिता घर में ही हैं और हमारी देखभाल कर रहे हैं, अन्यथा दिनों पर दिन निकलते जाते थे और हम लोगों को पिताजी का साक्षात्कार करने का अवसर नहीं मिलता था। उन की दिनचर्या निम्नलिखित थी—

बहुत सुबह सम्भवतः पाँच बजे उठ कर बाहर चले जाते थे। नित्य-कर्म से वहीं निवृत्त होते थे। दफ्तर का काम भी करते थे। केवल भोजन के समय अन्दर आते थे। रसोई के आँगन में एक बड़ी चौकी बिछती थी, उस पर एक सुन्दर आसन बिछाया जाता था। थाली के लिए आसन के सामने एक बाँकी सी तिपाई रखी जाती थी। यह सब तैयारी हो जाने पर नौकर बाबू जी को सूचना देने जाता था कि भोजन तैयार है। उस के पश्चात् घर में खड़ाऊँ की आवाज की प्रतीक्षा होने लगती थी। भारी और लम्बा शरीर होने के कारण और साथ ही चरित्र की दृढ़ता के कारण पिताजी के कदमों की यह खासियत थी कि वे भारी और सर्वथा नियमित रूप से पड़ते थे, ध्वनि दूर तक जाती थी और निश्चित समय के पीछे सुनाई देती थी। इस ध्वनि से घर-भर को सूचना मिल जाती थी कि बाबू जी आ रहे हैं। भोजन के समय रसोई में प्रायः बच्चे नहीं रहते थे। पिताजी के लिए फुलका सदा तायीजी अपने हाथ से बनाती थीं। प्रसंग तो टूटता है, परन्तु जब बात आ गई तो तायीजी के फुलकों की चर्चा भी कर देता हूँ। तायीजी के फुलके मशहूर थे। हमारे दादा जी संयुक्त प्रान्त में पुलिस के अफसर थे। वे बाँदा, बनारस और बरेली में शहर कोतवाल रहे थे। वे जहाँ कहीं भी नौकरी पर जाते, तायीजी को साथ ले जाना पड़ता था, क्योंकि उन्हें तायीजी का बनाया हुआ भोजन पसन्द था। भोजन में भी उनके फुलके छोटे और बिलकुल नरम होते थे। हमारे ताया जी मस्त आदमी थे। नौकरी-चाकरी उनकी तबीयत में नहीं थी। हुक्का और अफीम में उनका वक्त कट जाता था, जो एक बड़े अफसर के पुत्र होने से उन्हें माफ था। वे भी या तो दादा जी के पास रहते थे, या अपने

गाँव तलवन में विश्राम करते थे। तायीजी को भोजन बनाने का बड़ा शौक था। वे इस कार्य में अपने कमाल को जानती थीं और उसे करने में सन्तोष का अनुभव करती थीं। पिताजी को भी वे उसी शौक से भोजन कराती थीं, जिस शौक से उन्होंने दादा जी को कराया था। मैं इस प्रसंग को यह बताए बिना समाप्त नहीं करना चाहता कि जब मैं स्नातक बन कर गृहस्थी हुआ और मुझे तायीजी की सेवा करने का अवसर मिला तो तायीजी ने मुझे और घर के अन्य व्यक्तियों को भी उसी शौक से अपने हाथ के फुलके खिलाए। सत्तर साल से ऊपर उम्र हो जाने पर भी उनका शौक कम नहीं हुआ। चलने-फिरने में कष्ट होने लगा था, दृष्टि लगभग जाती रही थी और प्रायः बीमार रहने लगी थीं तो भी उन का आग्रह था कि उन्हें रसोई बनाने से न रोका जाए। सब चीज़ें एकत्र करके उनके पास रख दी जातीं और चूल्हे में आग जला दी जाती। वे अपने नित्य नियम के अनुसार टटोल-टटोल कर रसोई तैयार कर देतीं, तब खाना खातीं। यदि कभी उन्हें बीमारी या कमजोरी का कारण बतलाकर चौके में जाने से रोकने की चेष्टा की जाती तो वे कहतीं— "अच्छी बात है, मैं चौके में नहीं जाती, पर मैं खाना भी नहीं खाऊँगी। मैं हाथ से बनाए बिना नहीं खा सकती। मुझे किसी का बनाया खाना स्वाद नहीं लगता। मैं यह भी जानती हूँ कि मैं जब खाना बनाना छोड़ दूँगी, तब अधिक दिन तक नहीं जिऊँगी।" हुआ भी ऐसा ही। एक बार सख्त पेचिश हो जाने के कारण वे हिलने-जुलने में असमर्थ हो गईं और रसोई में नहीं जा सकीं। उस दिन उन्होंने उदास होकर कहा—"आज रसोई में जाने की हिम्मत नहीं, अब मैं ज्यादा दिन नहीं जिऊँगी।" इस भविष्यवाणी के बीसवें दिन तायीजी ने अपनी जीवन-लीला समाप्त कर दी।

मैं लिख रहा था कि पिताजी को सदा तायीजी अपने हाथों से खाना बनाकर खिलाती थीं। खाना खाकर और कुल्ला करके पिताजी फिर बाहर चले जाते थे। उनकी खड़ाऊँ की आवाज से बच्चे समझ जाते थे कि अब हमें रसोई में पहुँचना चाहिए। वहाँ जाकर हम दोनों भाइयों में यह प्रतिस्पर्धा रहती कि बाबू जी की थाली में खाना कौन खाए? इस प्रतिस्पर्धा में प्रायः जीत मेरी ही हुआ करती थी, क्योंकि एक तो मैं छोटा था और तायीजी मेरे पक्ष में रहती थीं। बाबू जी की थाली में प्रायः मैं ही खाना खाता था। मेरा यह शौक यहाँ तक बढ़ा कि यदि किसी कारण वे देर में खाना खाते तो मैं सब भाई-बहिनों के साथ खाना न खाकर तब तक प्रतीक्षा करता कि जब बाबू जी खाना खाकर चले जाएँ तो मैं उनकी थाली का उपयोग कर सकूँ।

भोजन के बाद थोड़ी देर तक हुक्का पीने के अनन्तर पिताजी कपड़े पहन कर कचहरी चले जाते थे। प्रायः सभी सन्तानों को बचपन में अपने

पिता दुनिया में सबसे अधिक सुन्दर, प्रेम करने वाले और बलवान मालूम हुआ करते हैं। कहना कठिन है कि यह अनुभूति कहाँ तक उचित है परन्तु इसके स्वाभाविक होने में तो कोई सन्देह नहीं। हम लोगों को पिताजी का कचहरी जाने के समय का रूप असाधारण से भी अधिक भव्य मालूम देता था। लम्बा कद, हृष्ट-पुष्ट शरीर, लम्बी दाढ़ी और साफ-सुथरा निर्दोष पहरावा—ये सब चीज़ें मिलकर उनकी मूर्ति को काफी शानदार बना देती थीं। उन दिनों पिताजी कोट, पैन्ट, कौलर, नकटाई सभी कुछ पहनते थे; परन्तु उन्होंने हैट कभी नहीं पहना। या तो साफा बाँधते थे या ऊँची फैल्ट कैप लेते थे। उनकी खुली घोड़ागाड़ी (गिग) का वर्णन मैं पहले कर चुका हूँ। पिताजी अदालत उसी में जाते थे और गाड़ी को स्वयं ही चलाते थे। उन दिनों वे सिगार भी पीते थे। घोड़े की बाग हाथ में लेते हुए वे प्रायः सिगार मुँह में लगा लेते थे।

कचहरी से लौटते-लौटते शाम हो जाती थी। वे लौटते हुए आर्यसमाज मन्दिर में भी एक घण्टा ठहरते थे। प्रारम्भ से वे जालन्धर आर्यसमाज के प्रमुख अधिकारी रहे। जब से मुझे होश आया, तब से उन्हें उस समाज का प्रधान ही पाया।

घर लौटकर उन्हें शायद कपड़े बदलने-भर का समय ही मिलता होगा। शाम होने से पहले ही दफ्तर के सामने वाले चबूतरे पर पूरे दरबार की तैयारी हो जाती थी। कम से कम पच्चीस-तीस कुर्सियाँ रखी जाती थीं और शायद इतने ही मेहमानों के लिए सर्दियों में चाय और गर्मियों में बर्फ, सोडा आदि की व्यवस्था की जाती थी। हमारे कुएँ का पानी बहुत ठण्डा और स्वादु था। अभ्यागत लोग गर्मियों में उसे भी बहुत शौक से पीते थे। शाम होते ही लोगों का आना आरम्भ हो जाता था। जो सज्जन पधारते, उनका मौसम के अनुसार चाय-पानी आदि से सत्कार किया जाता। हम बच्चे दूर से ही इस दरबार को देखा करते थे और आने वालों का यथाशक्ति परिचय अन्दर तायीजी को दिया करते थे। उनमें से जो लोग प्रतिदिन के आने वाले थे, उन के बारे में तायीजी प्रायः यह टिप्पणी किया करती थीं—"इन के घर के पास सोडा नहीं बिकता कि पीने के लिए रोज़ आ जाते हैं!" पाठक लोग इस टिप्पणी से यह न समझें कि मेरी तायीजी साधारण के कुछ अधिक अनुदार विचारों की थीं। दीवार के पीछे से सुना जाए तो शायद घर-घर में ऐसी टिप्पणियों का अस्तित्व मिलेगा।

यह दरबार अन्धेरा होने तक जारी रहता था। उस में राजनीति, धर्म आदि सभी विषयों पर चर्चा होती होगी। यह अनुमान मैं ऐसे लगाता हूँ कि रानाडे, तिलक, पं० गुरुदत्त, डी० ए० वी० कालेज आदि के नाम प्रायः लिए

जाते थे। इस प्रसंग में यह बता देना भी अनुचित नहीं होगा कि पिताजी ने अपनी बैठक में जो बड़े-बड़े चित्र लगा रखे थे, उनमें से तीन विशेष महत्त्व रखते थे, क्योंकि वे तीनों आकार तथा सजावट की दृष्टि से अन्यों से बढ़कर थे—ऋषि दयानन्द, महादेव गोविन्द रानाडे और लोकमान्य तिलक के। अन्धेरा होने पर पिताजी बातचीत का सिलसिला बन्द कर उठ खड़े होते थे, जिस पर अभ्यागत लोग विदा लेने लगते थे। कुछ समय पश्चात् पिताजी की खड़ाऊँ का शब्द फिर आने लगता था, जिससे हम लोग जान जाते थे कि वह सन्ध्या समाप्त करके भोजन के लिए आ रहे हैं। उस समय तक बच्चे भोजन कर चुके होते थे। भोजन के पश्चात् थोड़ी देर तक टहल कर पिताजी अपने सोने के कमरे में चले जाते थे। गर्मियों में जब सब लोग सहन में सोते थे तो कभी-कभी ऐसा अवश्य होता था कि सब बच्चे मिल कर पिताजी के पीछे पड़ जाते और उन्हें कहानी सुनाने के लिए मजबूर करते। कहानियां तो तायीजी और बूढ़ी बुआ जी भी सुनाया करती थीं, परन्तु पिताजी की सुनाई हुई कहानियों में विशेष आनन्द मिलता था। वे प्रायः टहलते हुए कहानी सुनाया करते थे। उन कहानियों में से दो अब तक याद हैं। एक तो सर वाल्टर स्काट की कहानी थी और दूसरी चार्ल्स डिकन्स की। उसके पश्चात् सब लोग सो जाते थे।

'जल्दी सोना' और 'जल्दी उठना' इस नियम के पिताजी कट्टर अनुयायी रहे। अन्त समय तक सोने और जागने के इस नियम का उन्होंने पालन किया। वे अपने जीवन में कार्य की इतनी अधिक मात्रा पूरी कर सके, इसका यही रहस्य है।

इस सारी दिनचर्या से पाठकों को मालूम हो जाएगा कि ऐसे सौभाग्यशाली दिनों को छोड़ कर, जब कि पिताजी के साथ हम लोग घूमने जाते या रात को कहानी सुनते, हमें उनका सम्पर्क नहीं मिलता था। घर के धन्धों की चिन्ता करने या घर की समस्याओं को हल करने के लिए बातचीत करते हम बच्चों ने कभी उन्हें न देखा था। घर का सब खर्च तायीजी के हाथों से होता था और प्रेस का सब हिसाब-किताब प्रेस मैनेजर लाला बस्तीराम करते थे। पिताजी डायरी अवश्य रखते थे, परन्तु जहाँ तक हमें याद है, उसमें आमदनी ही आमदनी नोट करते थे, खर्च नहीं। हम लोग अधिकतर उन की सत्ता को अनुभव करते थे, देखने या उनके पास आने का अवसर कम पाते थे। जैसे राजा जनक राज्य करते हुए भी अनासक्त थे और जैसे कमलपत्र पानी में रहते हुए भी गीला नहीं होता, उन दिनों पिताजी की दशा ठीक वैसी ही थी। वे गृहस्थी होते हुए भी घर से बहुत कुछ दूर थे। इसका यह अभिप्राय नहीं कि हम लोगों पर उनकी दृष्टि नहीं थी। वे देखते और सुनते सब कुछ

थे, परन्तु दखल बहुत कम (नहीं के बराबर) देते थे। घर पर दृष्टि रखने का दृष्टान्त निम्नलिखित है। मैं बता चुका हूँ कि हम चारों में से सबसे बड़ी बहन वेदकुमारीजी थीं, उन से छोटी हेमकुमारी जी थीं, जिन का नाम बाद में बदल कर अमृतकला रखा गया था। दोनों बहिनों के स्वभाव एक-दूसरे से बहुत भिन्न थे। बड़ी बहिन के स्वभाव में ठहराव था और छोटी बहिन के स्वभाव में तेजी। तायीजी के स्वभाव में उस समय काफी उग्रता थी। जब तायीजी तेज होती थीं, तब बहिन वेदकुमारी जी चुप हो जातीं, परन्तु बहिन हेमकुमारी जी जवाब दिए बिना नहीं छोड़ती थीं। इस पर तायीजी का क्रोध भड़क उठता था, जिसका परिणाम यह होता था कि कभी-कभी छोटी बहिन की पिटाई भी हो जाती थी। पिताजी के दफ्तर के रोशनदान हवेली के सहन में खुलते थे। अन्दर की आवाज बाहर पहुँच जाती थी। रोने की भनक कान में पड़ते ही पिताजी कुर्सी से उठकर अन्दर की ओर चल देते थे। उनकी खड़ाऊँ की आवाज एक गम्भीर चेतावनी की तरह कानों में पड़ने लगती थी। चेतावनी नपे-तुले कदमों से चलती हुई ड्योढ़ी तक आती और वहाँ रुक जाती थी। तायीजी का हाथ रोकने के लिए यह पर्याप्त था। तायीजी का आदर रखने के लिए ऐसे अवसर पर पिताजी कभी ड्योढ़ी से आगे नहीं बढ़ते थे। चेतावनी की आवाज सुनकर ही तायीजी अपना हाथ रोक लेती थीं। इस तरह संयम और समझदारी से कमलपत्र की तरह जल के अन्दर रहते हुए भी उससे अलग रहकर पिताजी उस समय गृहस्थ का पालन करते थे। हम लोग यह तो अनुभव करते थे कि उनकी आँखें हम पर हैं, परन्तु उनका हाथ हमसे दूर ही रहता था।

उस गृहस्थ जीवन की एक आवश्यक घटना, जिसे मैं उस गृहस्थ जीवन की अपने ढंग की अन्तिम घटना समझा हूँ, बहिन वेदकुमारी जी का विवाह था। वह विवाह हम छोटे बच्चों के लिए एक भारी उत्सव था। बचपन के स्मृति-पटल पर उस विवाह के कई धुँधले चित्र अङ्कित हैं। उन चित्रों में पिताजी एक सांसारिक गृहस्थ की तरह विवाह के कृत्यों का सम्पादन करते हुए दिखाई देते थे। हवेली के आँगन में यज्ञमण्डप बना था। बूढ़े पण्डित श्रीपति जी और बहिन जी के अध्यापक पण्डित ब्रजभूषण जी ने मण्डप के पास बैठकर सगाई की चिट्ठी लिखी थी। चिट्ठी पर लाल धागा बाँधा गया था और हम लोगों ने भी खूब मिठाई खाई थी। इस समारोह में पिताजी अपने पूरे वेश में मण्डप के पास बैठे हुए आवश्यक रस्में अदा कर रहे थे।

विवाह खत्रियों में हुआ। धूमधाम से बारात आई। सब लोग बारात को लेने गए। जो सामान बारात के सत्कार के लिए भेजा गया, उसमें सिगारों के डब्बे और पान के बीड़े भी थे। जब घर पर बारात खाने के लिए आई, तो

आँगन में सफेद चादरों के फर्श पर पुराने ढंग पर 'मीठा भात' परोसा गया, और खूब बाजे बजे। इस सारी प्रक्रिया में भी पिताजी पूरी तरह भाग लेते रहे।

सामान्य रूप से शायद पाठक इस वर्णन के महत्त्व को न समझ सकेंगे। पिताजी ने इस रस्मों में भाग लिया, इस बात का महत्त्व तभी समझ में आएगा, जब उनके ध्यान में यह बात आ जाएगी कि इस के पश्चात् पिताजी ने शायद कोई भी पारिवारिक कार्य रस्म के अनुसार नहीं किया। पारिवारिक ही नहीं, अन्य सब प्रकार के कार्यों में भी इस के पश्चात् उनका यही दृष्टिकोण बनता गया था कि यथासम्भव रस्मों को तोड़ा जाए। कट्टर सुधार की भावना उनकी अन्तरात्मा में जागृत हो गई थी। कभी-कभी यह ख्याल होता है कि शायद यह विवाह भी उस भावना के उग्र रूप में जागृत होने का एक कारण हुआ हो।

चौथा परिच्छेद

रोपड़ की प्रचार-यात्रा

यह तब की बात है, जब मेरी आयु छः-सात साल की होगी। पिताजी उस समय आर्यसमाज के काम में पूरी तरह गोता लगा चुके थे। उन दिनों उनका मुख्य काम आर्यसमाज का प्रचार था और गौण काम वकालत।

सद्धर्म-प्रचारक ने उसी साल जन्म लिया, जिस साल मैंने। इस प्रकार समाचार-पत्र का और मेरा एक ही वर्ष में जन्म हुआ। यही कारण मालूम होता है कि मेरे और पत्रकार-कला के ग्रह बराबर एक-से चल रहे हैं। मैं पत्रकार के काम को छोड़ना भी चाहूँ तो वह नहीं छूट सकता। अस्तु, यह तो अवान्तर बात हुई। प्रसंग की बात यह है कि सद्धर्म-प्रचारक के सम्पादन का सारा कार्य करने के अतिरिक्त, पंजाब-भर की आर्यसमाजों में घूम कर प्रचार करना और आर्यसमाज के संगठन को मज़बूत बनाना पिताजी के उन दिनों के कार्यक्रम का सबसे प्रधान अंग था। प्रचार के दौरों में वे प्रायः अकेले ही जाएा करते थे। वे पंजाब की आर्य प्रतिनिधि सभा के प्रधान थे। अतः महीने में दो-तीन बार उन्हें लाहौर तो जाना ही पड़ता था, पंजाब के अन्य शहरों के दौरे भी कुछ कम नहीं होते थे।

मैंने ऊपर कहा कि समाज के प्रचार के लिए वे अकेले ही जाते थे, इस नियम में एक अपवाद भी था। अम्बाले के जिले में रोपड़ नाम का एक शहर है। कई वर्ष तक वहाँ के आर्यसमाज के जलसे में पिताजी प्रायः हम सबको ले जाते रहे। वह यात्रा बहुत ही मनोरंजक होती थी। वह उस समय के आर्य-सामाजिक जीवन का एक नमूना थी।

जिस यात्रा का मैं वर्णन करने लगा हूँ, वह लगभग 1896 की है। जालन्धर से कई परिवार एक ही गाड़ी से रोपड़ के लिए रवाना हुए। जहाँ तक याद है, केवल हमारे ताया जी अपने सदा के साथी हुक्के के साथ कोठी पर रह गए थे। हम चारों बच्चे, तायीजी और रणुआ पिताजी के साथ गए। गाड़ी में और भी बहुत से आर्यसमाजी परिवार थे।

शाम के समय रेलगाड़ी दोराहा स्टेशन पर पहुँची। रोपड़ जाने के लिए वहाँ उतरना पड़ता था। स्टेशन पर स्वागत के लिए दोराहा के बहुत से आर्यसमाजी पहुँचे हुए थे। रेल से उतार कर वे लोग जालन्धर के सब आर्य-बन्धुओं को एक बाग में ले गए, जहाँ सन्ध्या, हवन और सबके भोजन का इन्तज़ाम था। आर्यसमाज के उस समय के सुन्दर सामाजिक जीवन का वह

एक अच्छा नमूना था।

अन्धेरा होने से पहले ही यात्रियों का दल नहर के किनारे पर जा पहुँचा। यह सतलुज की नहर है, जो रोपड़ से चलकर दोराहे के पास से गुज़रती है। नहर के किनारे जाकर देखा कि तीन-चार बड़ी-बड़ी छती हुई किश्तियाँ, जिन्हें प्रचलित भाषा में 'बजरा' कह सकते हैं, खड़ी थीं। उन्हें देख कर प्राय: सभी के हृदय में उत्साह पैदा हो रहा था, बच्चों का तो कहना ही क्या! हमारे लिए तो मानो वह समुद्र-यात्रा थी। यात्री-दल उछलता-कूदता उन किश्तियों में जा बैठा। सब किश्तियाँ अच्छी थीं, साफ-सुथरी बनी हुई थीं, बिस्तर बिछाकर सोने की खुली जगह थी। सब लोग धार्मिक जोश से भरे हुए थे। किश्तियों में बैठते ही वेद-मन्त्रों और भजनों का सिलसिला जारी हो गया। किश्तियों को माँझियों ने रस्सियों से बहाव के ऊपर खींचना शुरू कर दिया तो ठण्डी-ठण्डी हवा के झोंके आने लगे, जिससे बच्चों को नींद आ गई, लेकिन सोते-सोते भी हमने अनुभव किया कि आर्य नर-नारी वैदिक-धर्म के गीत गा रहे हैं।

आधी रात के समय सब की नींद उचट गई। आकाश में मानों प्रलय मच रहा था। ऊपर काले-काले घने बादल छाये हुए थे, जो रात के अन्धकार को और भी घना बना रहे थे। तूफानी हवा चल रही थी और बड़ी-बड़ी बूँदों से पानी बरस रहा था। नौका की छत हवा के झकोरों के सामने सर्वथा व्यर्थ सिद्ध हो रही थी। पानी सपाटे से आता था और इस पार से उस पार निकल जाता था। हम लोग अपनी तायीजी के चारों ओर दुबक कर बैठ गए थे। कपड़े भीग गए थे और ऊपर से पानी बराबर बरस रहा था। पिताजी उस काफिले के नेता थे। वे किश्ती के अग्रभाग में बरसते पानी में खड़े होकर अपने गरजते हुए स्वर में सब यात्रियों की हिम्मत बँधा रहे थे और ईश्वर-स्मरण करने की प्रेरणा कर रहे थे।

इसके आगे विस्तार से याद नहीं कि उस रात क्या हुआ? यह स्मरण है कि जब प्रातःकाल हुआ, तब हमारी किश्तियाँ आगे चल सकीं। रात-भर उन्हें खूँटे से बँधे रहना पड़ा। उसका परिणाम यह हुआ कि हमारी जो जल-यात्रा दोपहर से पहले समाप्त होनी चाहिए थी, वह सन्ध्या-समय में समाप्त हुई। घाट पर लाला सोमनाथ और बहुत से आर्य नर-नारी स्वागत के लिए विद्यमान थे। लाला सोमनाथ उन वीर आर्यसमाजियों में से थे, जिन्हें अपने विश्वास के कारण सारी बिरादरी और परिवार का विरोध सहना पड़ा था। आजकल के आर्य-समाजी पूरी तरह समझ भी नहीं सकते कि उस समय के आर्यसमाजियों को कैसी शिलाओं से टकराना पड़ता था। आज तो आर्यसमाज का मार्ग शाही मार्ग है, जिस पर चलकर बहुत से भाग्यशाली

राजमहलों तक पहुँच जाते हैं परन्तु उस समय समाज का मार्ग बहुत बीहड़ जंगल का मार्ग था, जिसमें जगह-जगह गड्ढे और कँटीली झाड़ियाँ थीं। उनमें से कोई बिरला भाग्यशाली ही आहत हुए बिना निकल सकता था। लाला सोमनाथ उन वीर आर्यसमाजियों में से थे, जिन्होंने बहुत सी चोटें खाकर भी धर्म-यात्रा को पूरा करने में सफलता प्राप्त की थी।

स्मृति-पटल पर उस समय का जो चित्र अङ्कित है, उसमें एक मूर्ति और भी खड़ी दिखाई देती है। याद आता है कि लाला सोमनाथ के पास एक सज्जन और खड़े थे, जो देखने में पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त के मुसलमान दिखाई दे रहे थे। मज़बूत शरीर, दरम्याना कद, छोटी-छोटी दाढ़ी, बड़ी-बड़ी मूँछें, सिर पर लम्बे सलमे वाली बड़ी-सी पगड़ी, कोट के बटन खुले हुए और हाथ में एक किताब थी। वे ऋषि दयानन्द के अनन्य भक्त धर्मवीर पण्डित लेखराम थे। सम्भवत: यह मेरे लिए पण्डित जी के पहले दर्शन थे।

हम लोगों के किश्तियों से उतरने पर पिताजी से पण्डित लेखराम जी की जो बातचीत हुई, उसका कुछ प्रारम्भिक हिस्सा मुझे याद है। पण्डित जी ने आगे बढ़ते हुए कहा—"प्रधान जी, नमस्ते। देख लीजिए, मैं आप से पहले यहाँ पहुँच गया।"

पिताजी ने उत्तर दिया—"आपको तो पहले पहुँचना ही चाहिए था, क्योंकि आप तो आर्य-मुसाफ़िर हैं, मुसाफ़िर आगे ही रहा करते हैं।"

पं० लेखराम जी आर्य-मुसाफ़िर या आर्य-पथिक कहलाते थे और पिताजी ने अपने-आप को कल्याण-मार्ग का पथिक लिखा है। आर्यसमाज के इन दोनों कल्याण-मार्ग के पथिकों का यह वार्तालाप भविष्यवाणी से कैसे भरा हुआ था, यह किसी को उस समय मालूम नहीं था। दोनों एक ही राह के राही थे तथा एक ही द्वार से होकर इस संसार से विदा हुए। भेद केवल वही रहा जो रोपड़ की उस बातचीत में झलक रहा था। पं० लेखराम जी की गति बहुत तेज थी। इस कारण वह रास्ते को जल्दी तय कर गए और कुर्बानी के द्वार से होकर विश्राम-स्थान में पहुँच गए। पिताजी की तबीयत में अपेक्षया अधिक ठहराव था, इस कारण वे रास्ते पर देर तक चलते रहे, परन्तु पहुँचे उसी कुर्बानी के द्वार से और उसी विश्रान्ति-स्थान पर।

यह मैंने पं० लेखराम जी के प्रथम दर्शन का वृत्तान्त सुनाया है। इससे आगे की स्मृतियों का समावेश अगले परिच्छेद में करूँगा।

पांचवाँ परिच्छेद

कल्याण-मार्ग के दो पथिक

मेरी आयु उस समय शायद छह वर्ष की होगी। मैं उस मकान का कुछ वर्णन अपने पूर्व लेख में कर चुका हूँ, जिसमें हम लोग रहते थे। पिताजी के मस्तक पर एक शान की रेखा थी। वह जो काम करते थे और जिस ढंग में करते थे, उसमें एक खास तरह की शान रहती थी। वह मकान भी एक किले की सी शान रखता था।

उस मकान के सदर दरवाज़े के लगभग सामने आर्यसमाज मन्दिर था, बीच में केवल सड़क पड़ती थी। व्यवहार में हम उस सड़क को घर का ही एक रास्ता मान लें तो अनुचित न होगा, क्योंकि उस समय पिताजी का निजू जीवन आर्यसमाजमय था। आर्यसमाज मन्दिर और कोठी में सीमा की रेखा बाँधना कठिन था। दोनों एक-दूसरे के परिशिष्ट थे। पिताजी का आधा समय समाज-मन्दिर में व्यतीत होता था और कोठी का अतिथि-गृह आर्यसमाज के उपदे: कों और अभ्यागतों से शायद ही कभी खाली रहता हो।

उर अतिथि-गृह में अनेक अतिथि आते रहते थे, उन सबकी सूरतें याद नहीं पर एक सूरत मानो पत्थर की लकीर होकर स्मृति पर बैठी हुई है। वह थी आर्य- पथिक पं० लेखराम जी की मूर्ति।

जो घटना याद है, उसमें आर्य-पथिक का वह पेटेण्ट रूप नहीं था। उस समय उन्हो । केवल एक कपड़ा पहिना हुआ था और वह था पायजामा। बरसात के दिन थे। शाम का समय था। शरीर से पानी बह रहा था। इस कारण पायजामे के भक्त पं० लेखराम जी केवल पायजामा पहिने कोठी से निकल कर आर्यसमाज के कुएँ की ओर जा रहे थे।

कुएँ के पास एक पेड़ था (शायद जामुन का) ज़िस के नीचे चारपाई डालकर पण्डित जी लिखा करते थे। आप वहाँ जाकर खड़े हुए। उस स्थान पर वैदिक पाठशाला के दो-तीन विद्यार्थी थे। उनके नाम याद नहीं। मैं भी पास ही खड़ा था। एक विद्यार्थी ने बातचीत के प्रसंग में पूछा—

"पण्डित जी, मन का क्या लक्षण है ?" मैं उसका कुछ अभिप्राय न समझा, क्योंकि इतना छोटा बच्चा मन और उसके लक्षण की बात क्या जाने! मुझे भी यह बात याद न रहती, यदि पण्डित जी का जवाब इतना विलक्षण न होता। उस जवाब के कारण ही वह घटना मेरी स्मृति पर अङ्कित हो गई। आपने उत्तर दिया—"उल्लू का पट्ठा।"

जिज्ञासु पण्डित जी का मुँह देखने लगा। शायद उसने समझा हो कि पण्डित जी ने उसे ही गाली दे डाली। पण्डित जी भाँप गए और बोले— "भाई! मैं कहता हूँ कि मन उल्लू का पट्ठा है, क्योंकि अगर इसे काबू में न रखो तो यह अनर्थ कर देता है।"

यह व्याख्या सुनकर विद्यार्थी हँस पड़े। इस उत्तर में पं० लेखराम जी के चरित्र की कई विशेषताएँ भरी हुई हैं। आप हाज़िरजवाब थे, तुर्त-फुर्त जवाब देते थे। आपकी भाषा में एक सीधापन था, जो अक्खड़पन की सीमा तक पहुँचता था। आप सूक्ष्म से सूक्ष्म बात को जनता के समझने योग्य भाषा में प्रकट करने की शक्ति रखते थे।

मैंने ऊपर आर्य-पथिक को पायजामे के भक्त लिखा है। पायजामा और प्याज ये दो आपके विशेष प्रेम की वस्तुएँ थीं। पायजामा के भक्त होने के कारण आप धोती के सख़्त विरोधी थे। एक घटना याद आती है। पिताजी घर पर धोती पहिनते थे। केवल अदालत या सफर में जाते समय पायजामा या पतलून पहिना करते थे। एक दिन वे धोती-कुर्ता पहिने बैठक के बाहर चबूतरे पर घूम रहे थे कि बाहर से पायजामा-धारी पण्डित जी आए और जहाँ तक मुझे स्मरण है, निम्नलिखित वाक्य कहा—

"ईश्वर जानता है, लाला मुन्शीराम जी! इस धोती ने ही हमारे देश का नाश किया है। आप धोती न पहिना करें।"

पिताजी हँस पड़े। जैसे महाराष्ट्र साम्राज्य के संस्थापक छत्रपति शिवाजी के चित्र को देखकर यह पहिचानना कठिन है कि वह कोई मुग़ल बादशाह है कि मराठा सरदार, उसी प्रकार पं० लेखराम जी को पूरे वेश में देखकर यह भेद करना दुष्कर था कि वे पेशावरी मुसलमान हैं या सरहदी हिन्दू।

पं० लेखराम जी का पिताजी से सगे भाई का सा प्रेम था। हमारे घर पर उनका आना-जाना और रहना निःसंकोच था। हम बच्चे उन्हें 'पण्डित जी' के नाम से पुकारा करते थे। घर में प्रायः उनकी चर्चा हुआ करती थी। पिताजी उनके निडरपन के कारनामे बड़ी प्रशंसा के साथ सुनाया करते थे। तायीजी उनसे काफी असन्तुष्ट रहती थीं। वह गृहस्वामिनी ठहरीं, हमेशा का मेहमान उन्हें कैसे रुच सकता था! एक और भी बात थी। वह स्त्रीसुलभ नैसर्गिक बुद्धि से यह अनुभव किया करती थीं कि इस अनथक उपदेशक के साथ जरूर कोई न कोई मुसीबत बँधी हुई है, जो हमारे घर पर भी आ सकती है। जब बाहर से ख़बर आती थी कि पं० लेखराम जी आ रहे हैं, तब तायीजी प्रायः कहा करती थीं—"आ गई आफ़त।"

पं० लेखराम जी की विस्तृत जीवनी पिताजी ने लिखी है। वह पिताजी के व्यक्तिगत संस्मरणों से भरी पड़ी है। बच्चे की याददाश्त के छोटे से ख़ज़ाने में जो दो-चार टुकड़े मिले हैं, यहाँ उन्हीं को लिखना चाहता हूँ।

यह स्मरण है कि एक दिन पं० लेखराम जी अपनी धर्मपत्नी सहित कोठी में आये। उनकी धर्मपत्नी का नाम लक्ष्मी था। यह भी स्मरण है कि वह बहुत ही लज्जाशील थीं। उसके पश्चात् पण्डित जी का हमारे यहाँ रहना बन्द हो गया, क्योंकि उन्होंने कोट राधाकृष्ण में घर ले लिया था।

पण्डित जी उर्दू के बड़े ज़बरदस्त लेखक थे। जिस धड़ल्ले का व्याख्यान देते थे, उसी धड़ल्ले की उर्दू लिखते थे। उनके अधिकांश लेख तथा ग्रन्थ या तो दार्शनिक विषयों के सम्बन्ध में हैं अथवा मुसलमानों और विशेषत: कादयानी मुसलमानों के विषय में लिखे गए। वह सबको बहुत खरे और अप्रिय सत्य कह डालने वाले समालोचक थे। उनके ग्रन्थ प्राय: हमारे ही सद्धर्म-प्रचारक यन्त्रालय में छपा करते थे। जहाँ तक मुझे याद है, उनका कातिब एक मुसलमान था, जो हमारे प्रेस का सबसे पुराना और विश्वस्त कातिब था। उसका नाम निज़ामुद्दीन था।

प्रेस के प्रसंग में एक और बात भी याद आ गई। सद्धर्म-प्रचारक प्रेस मैनेजर अपने समय के पुराने मुन्शियों का नमूना था। उसका नाम बस्तीराम था। लम्बी दाढ़ी, जो उस युग में शिष्टता का चिह्न मानी जाती थी, बस्तीराम के चेहरे पर भी विराजमान थी। वह बहुत ही मेहनती और कंजूस आदमी था। पिताजी शाहखर्च और उदार मशहूर थे। उनकी आशुतोष और विश्वासी तबीयत से जो लोग लाभ उठाना चाहते थे, वे बस्तीराम से बहुत जलते थे। दृष्टान्त के लिए हम बच्चों को लीजिये। उस समय हम चार लड़के घर पर रहते थे। हरिश्चन्द्र जी, मैं, चेतराम और जेठराम। यह चेतराम और जेठराम कौन थे, और हम दोनों के साथ भाइयों की तरह कैसे पले, यह किस्सा किसी दूसरे स्थान पर सुनाऊँगा। इस समय तो केवल इतना ही बतलाना अभीष्ट है कि हम चारों भी सद्धर्म-प्रचारक प्रेस के मैनेजर लाला बस्तीराम से बहुत नाराज़ रहते थे, क्योंकि वे हमें प्रेस के कागज, कलम आदि आकर्षक सामग्री नहीं उड़ाने देते थे। यदि किसी को प्रेस में पा लेते तो सीधे दफ्तर में पहुँचकर बाबू जी (पिताजी) के सामने पेश कर देते थे। उदार स्वामियों को ऐसे सेवकों की आवश्यकता होती है। इसी कारण जब तक सद्धर्म-प्रचारक उर्दू में रहा, तब तक उसके मैनेजर लाला बस्तीराम जी रहे। प्रेस में उनका शासनकाल सम्भवत: चौदह या पन्द्रह वर्ष तक रहा होगा।

इसी प्रसंग में पिताजी के मुन्शी उदयसिंह भी याद आ गए। वे वकील साहब के मुन्शी थे। उसी ठाठ से रहते थे। कान में सदा होल्डर लगा रहता था। यद्यपि कलमदान में कई कलमें रहती थीं, तो भी उन का भरोसा कान में लगी कलम पर ही रहता था। तलवार तभी सिर उड़ाती है, जब म्यान से बाहर हो। मुन्शी जी अपनी कम से कम एक तलवार सदा म्यान से बाहर रखते थे।

उदयसिंह जी की एक और बात याद है। यदि मेरे बड़े भाई गवाही दे

सकते तो वे भी मेरा समर्थन करते। हरिश्चन्द्र जी बड़े भी थे और समर्थ भी। मैं बचपन से ही बीमार रहा हूँ। दो वर्ष की आयु में निमोनिया का पहला आक्रमण हुआ और चार वर्ष की आयु में दूसरा। इसके बाद से सदा मुझे खाँसी बनी रही। बचपन से मैंने न जाने लाल शर्बत की कितनी बोतलें पी डाली थीं। मेरे शरीर का उठान पिताजी और भाई जी तक नहीं पहुँचा, उसका कारण मेरी बचपन की बीमारी ही थी। उस बीमारी के कारण मैं शरारतें भी कम कर सकता था। हरिश्चन्द्र जी का शरीर उस समय खूब हृष्ट-पुष्ट था। वे बाल-सुलभ नटखटियों में हम लोगों के अगुआ रहते थे। जब कभी पकड़े जाते और बाबू जी के दरबार में हाज़िरी होती, तब उन्हें यह सज़ा दी जाती थी कि घण्टा-दो घण्टा तक मुन्शी उदयसिंह की देख-रेख में रहें। मुन्शी उदयसिंह उन्हें अपने दफ्तर के कमरे में पाँव दूर-दूर रखा कर खड़ा कर देते थे और कभी-कभी दो-दो घण्टा खड़े रखते थे। उस आपत्ति के समय में यथाशक्ति तरह-तरह की मदद पहुँचाना हम बच्चों का काम था।

एक दिन समाज-मन्दिर में और हमारी कोठी पर बड़ी भारी भीड़ लग गई। हम लोगों ने सुना कि लाहौर में किसी मुसलमान ने पण्डित लेखराम जी को छुरे से मार दिया है। जिस समय इस आशय का तार आर्यसमाज में पहुँचा, उस समय पिताजी लाहौर गए हुए थे। मैं लिख चुका हूँ कि पिताजी और पण्डित जी अभिन्न सखा थे। पण्डित जी के समालोचनात्मक ग्रन्थ सद्धर्म-प्रचारक प्रेस में छपते थे। इस कारण जालन्धर में यह अफवाह फैल गई होगी कि पिताजी भी छुरे के शिकार हो गए। सैकड़ों लोग हमारी कोठी में उनका कुशल समाचार पूछने के लिए आए। मुझे याद है कि हम सब लोग बहुत विचलित हो गए। शायद तायीजी और बहिनें कुछ रोयी भी थीं। तुरन्त ही एक आदमी लाहौर भेजा गया जो दूसरे दिन प्रातःकाल तक सब समाचार ले आया। उस समय तक लाहौर के दैनिक पत्र ट्रिब्यून में भी पं० लेखराम जी के बलिदान की पूरी कहानी आ चुकी होगी, तब कहीं हम लोगों की चिन्ता दूर हुई, परन्तु कभी-कभी अफवाह भी भविष्य-वाणी का रूप धारण कर लेती है। किंवदन्ती उड़ाने वालों को यह मालूम नहीं था कि वे एक ऐसी भविष्यवाणी कर रहे हैं, जो लगभग 30 वर्ष पश्चात् पूरी होगी। आर्य-पथिक पण्डित लेखराम जी का बलिदान 6 मार्च, 1897 के दिन हुआ, और कल्याण-मार्ग के पथिक स्वामी श्रद्धानन्द जी 23 दिसम्बर 1926 के दिन वीरगति को पधारे। एक आततायी के छुरे का शिकार हुआ तो दूसरा आततायी की गोली का निशाना बना। सवारी अलग-अलग थी, परन्तु जिस मंजिल पर दोनों सखा पहुंचे, वह एक ही थी और वह थी आत्मबलिदान की मंजिल, जो मनुष्य जाति के लिए सबसे श्रेष्ठ मंजिल है और केवल पुण्यों के विशाल संग्रह से प्राप्त होती है।

छठा परिच्छेद

भगवत्कृपा का भरोसा

मैंने एक ऐसी घटना सुनाने का वायदा किया था, जिसने पिताजी के हृदय में ईश्वर-विश्वास और श्रद्धा की जड़ों को अधिक मज़बूत बना दिया था। वह घटना पिताजी प्रायः सुनाया करते थे।

घटना इस प्रकार थी—सद्धर्म-प्रचारक में सनातन-धर्म सभा पंजाब के उपदेशक पं० गोपीनाथ जी के सम्बन्ध में एक छोटा सा सम्पादकीय नोट प्रकाशित हुआ। उस नोट में पं० गोपीनाथ जी के चरित्र पर आक्षेप किया गया था। जिस समय सद्धर्म-प्रचारक में वह नोट प्रकाशित हुआ, उस समय पिताजी जालन्धर में नहीं थे। सहायक सम्पादक लाला वज़ीरचन्द जी ने वह नोट लिखा था। पं० गोपीनाथ जी को इससे पूर्व लाहौर के अंग्रेज़ी के एक अख़बार के विरुद्ध मानहानि के दावे में सफलता हो चुकी थी। सफलता द्वारा बढ़े हुए उत्साह से प्रभावित होकर पं० गोपीनाथ जी ने सद्धर्म-प्रचारक के सम्पादक और प्रकाशक पर मानहानि का दावा कर दिया।

जिस समय पिताजी को लाहौर की अदालत का समन मिला, वे दौरे पर थे और बीमार थे। जुकाम और बुखार से पीड़ित होते हुए भी प्रचार के जोश में वे कई मास से निरन्तर घूम रहे थे। समन पाकर वे लाहौर पहुँचे।

इस मुकदमे ने प्रारम्भ से ही एक सार्वजनिक रूप धारण कर लिया था। पंजाब में आर्यसमाज में और सनातन-धर्म सभा में जो विचार-संघर्ष वर्षों से चल रहा था, बह उसकी पराकाष्ठा थी। दोनों ओर बड़ा जोश था।

मुकदमे के अनुसार ही वकील किए गए थे। पं० गोपीनाथ जी की ओर से एक अंग्रेज़ वकील थे, जो उस समय लाहौर में वकीलों के सरदार समझे जाते थे। पिताजी की सफाई के लिए हमारे मामा रायज़ादा भगतराम जी जालन्धर से गए थे।

यहाँ कुछ शब्द मामा भगतराम जी के विषय में लिख देना अनुचित न होगा। हमारे मामाओं में से व्यक्तिगत सम्बन्ध में रायज़ादा भगतराम जी पिताजी के सबसे अधिक समीप थे। कट्टर आर्यसमाजी, शाकभोजी और सार्वजनिक कार्यकर्त्ता होने के नाते से लाला देवराज जी का पिताजी के अधिक समीप होना स्वाभाविक था, परन्तु बहुत पूर्व से ही रायज़ादा भगतराम जी से पिताजी का गहरा प्रेम था। परिवार के सम्बन्ध कड़वे हो गए, पिताजी ने जालन्धर छोड़ दिया, महात्मा बने और फिर संन्यास ले लिया, परन्तु दोनों का निजी

प्रेम शिथिल नहीं हुआ। जब पिताजी की आयु लगभग 70 वर्ष की हो गई थी, तब मामा जी एक मुकदमे की पैरवी में दिल्ली आकर शायद अन्तिम बार उनसे मिले थे। उस समय भी मैंने सुना कि पिताजी उन्हें भगतराम, और मामा जी पुराने संस्कारों के अनुसार उन्हें मुंशीराम जी, इस नाम से पुकार रहे थे।

आश्चर्य की बात यह थी कि मामा भगतराम जी विचार-पद्धत्ति में पिताजी से सर्वथा भिन्न थे। विलायत से बैरिस्टरी के साथ ही वे बहुत विलायती रंग-ढंग ले आए थे। अंग्रेज़ी ढंग का रहन-सहन पसन्द करते थे, गोश्त खाते थे और धर्म को बहुत गम्भीर वस्तु नहीं समझते थे। हमारी मामी जी को मांस से बहुत घृणा थी। उनके चौके में आमिष नहीं पक सकता था। मामा जी का खानसामा अलग था और डाइनिंग रूम भी अलग था, जहाँ वे मेहमानों और बाल-बच्चों के साथ खाना खाया करते थे। पिताजी या स्नातक बनने के पश्चात् हम लोग जब कभी मामा जी की कोठी पर जाते थे, तब मामी जी की रसोई के सदस्य ही बनाए जाते थे।

पिताजी कट्टर निरामिषभोजी और मामा जी भोजनादि में सर्वथा आज़ाद, परन्तु दोनों का व्यक्तिगत सान्निध्य अपूर्व था।

इसका मुख्य कारण यह था कि पिताजी और मामा जी दोनों में एक समानता थी। दोनों के हृदय विशाल थे। उनमें इतनी खुली जगह थी कि वे केवल विचारभेद से दूरी करने की आवश्यकता नहीं समझते थे। मामा जी के लिए यदि कोई अंग्रेज़ी शब्द बिल्कुल ठीक जँचता तो वह 'परफैक्ट जेण्टिलमैन' शब्द था। दो उदारहृदय बन्धुओं में लड़ाई नहीं हुआ करती। लड़ाई वहीं होती है जहाँ हृदय के द्वार तंग हों।

अस्तु, तो मामा जी जालन्धर से पिताजी का मुकदमा लड़ने के लिए लाहौर गए। पहली पेशी में पं० गोपीनाथ जी की गवाही होने वाली थी। मामा जी ने पिताजी से पूछा—"मुंशीराम जी, कोई मसाला भी है या नहीं ? जिरह में क्या पूछा जाएगा ?" मसाला कुछ था ही नहीं, दोनों चिन्तित थे कि मुकदमा कैसे लड़ा जाएगा। पिताजी ने उत्तर दिया—"भाई, मसाला तो कुछ भी नहीं, एक ईश्वर का भरोसा है। चलो, कोई न कोई रास्ता निकल आएगा।"

दोनों बन्धु खाली हाथ अदालत में जा पहुँचे। पं० गोपीनाथ जी को अपनी जीत का दृढ़ निश्चय था। वे शेर की तरह छाती ताने हुए आए और अपना बयान स्पष्ट शब्दों में दिया। इतने में लंच का समय हो गया। अदालत उठने की तैयारी करने लगी, और रायज़ादा भगतराम जी इस्तगासे के बयान पर दृष्टि गड़ा कर देखने लगे कि लंच के बाद क्या जिरह की जाऐगी।

आगे जो हुआ, वह यभासम्भव पिताजी से सुने हुए शब्दों में ही

सुनाता हूँ—

मैं पीठ पीछे हाथ रखे खड़ा था कि इतने में मेरे हाथ को किसी ने छुआ और कोई चीज़ पकड़ाई। मैंने उस चीज़ को पकड़ने के लिए हाथ फैलाया तो किसी ने कागजों का एक पुलिन्दा मेरे हाथ में दे दिया। मैंने यह समझकर कि किसी अख़बार की फाइल होगी, उसे ले लिया। इतने में अदालत लंच के लिए उठ गई। मैं उस पुलिन्दे को हाथ में लेकर यह सोचता हुआ बाहर निकला कि मामले के बिना मुकदमा कैसे लड़ा जाएगा ? बाहर निकलकर भगतराम जी के साथ एक कमरे में जा बैठा। तब ख़्याल आया कि मेरे हाथ में कुछ कागज हैं, उन्हें देखना चाहिए। देखा तो दंग रह गया। पं० गोपीनाथ जी की बदचलनियों के सबूतों का ढेर मेरे सामने पड़ा था। बंडल में वेश्याओं के नाम गोपीनाथ जी के लिखे हुए पत्र थे। उन पत्रों में वे रहस्य भरे पड़े थे, जिनका किसी को वहम भी नहीं हो सकता था। जब उस बण्डल को मैंने भगतराम जी के सामने रखा तो वे उछल पड़े।

उस बण्डल को पिताजी के हाथ में कौन रख गया, यह कभी पता न लग सका। यदि पिताजी आर्यसमाजी न होते तो उसे अवश्य ही 'साँवलशाह' का चमत्कार मान लेते। उस बण्डल ने न केवल पिताजी को निर्दोष साबित कर दिया, बल्कि पं० गोपीनाथ जी का असली रूप भी संसार के सामने रख दिया।

पिताजी कहा करते थे कि उस बण्डल की घटना ने मेरे इस विश्वास को बहुत दृढ़ कर दिया कि साँच को आँच नहीं, क्योंकि सत्य के रक्षक परमात्मा का हाथ मनुष्य के हाथ से बहुत लम्बा है।

हम दोनों भाई उन दिनों वैदिक पाठशाला में पढ़ते थे, जो गुजरांवाले में खोली गई थी। इस मुकदमे का समाचार हमने वहीं सुना।

सातवाँ परिच्छेद

बन्धन से मोक्ष की ओर

जैसे पर्वत की किसी ऊँची चोटी से पानी की धारा निकलकर किसी गहरे स्थान में इकट्ठी होती रहती है, जिससे झील भर जाती है और जब झील लबालब भर जाती है, तब पानी रास्ता तलाश करके एक निश्चित दिशा में नदी का रूप धारण करके बहने लगा है, उसी प्रकार पिताजी का जीवन बड़ी बहिन वेदकुमारी जी के विवाह के पश्चात् निश्चित मार्ग बना कर धर्म-सेवा की नदी के रूप में सर्वमेधयज्ञ को ओर बहने लगा था। पिछले परिच्छेद में मैंने उस जीवन के लबालब भरने की कथा सुनायी थी। इस परिच्छेद में मैं उनकी नई जीवनधारा के पहले पड़ाव के कुछ संस्मरण लिखूँगा।

एक दिन प्रात:काल हवेली के अन्दर ख़बर पहुँची कि बाहर बाबू जी से मिलने वालों की भीड़ लग रही है। क्या मामला है, यह जानने के लिए हम दोनों भाई भाग कर बाहर आए। दफ्तर के बरामदे में कुर्सियों पर बहुत से आदमी बैठे थे और पिताजी एक अंग्रेज़ी का अख़बार सुना रहे थे। प्राय: सभी उपस्थित लोगों के हाथ में अख़बार दिखाई देता था। हम दोनों अंग्रेज़ी नहीं समझ सकते थे, इस कारण पूरी बात तो समझ में नहीं आई, परन्तु लेख पढ़े जाने के पश्चात् जो आपस की बातचीत हुई और जिस प्रकार लोग ताली दे-दे कर हँस रहे थे, उससे हमने यह अवश्य जान लिया कि मामला कोई मज़ाक का है, और अख़बार के किसी लेख से लोग धोखे में आ गए हैं। उसी समय हमने यह भी देखा कि तार वाला कई तार लेकर आया है, वे भी पढ़े गए और उन पर भी कहकहा लगा।

उस समय तो हम लोग अच्छी तरह नहीं समझ सके कि क्या बात थी ? परन्तु पीछे से सब भेद समझ में आ गया। बात यह थी कि कुछ समय पहले पिताजी ने समाज-मन्दिर में रहतियों को शुद्ध किया था। रहतियों की गिनती उस समय अछूत हिन्दुओं में की जाती थी। आर्यसमाज सिद्धान्त रूप में प्रारम्भ से ही छुआछूत को नहीं मानता था, परन्तु तब तक उसकी ओर से अछूतता को दूर करने का कोई संगठित उपाय नहीं किया गया था। पिताजी के जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यही थी कि वे जिस बात पर विश्वास करते थे, उसे कार्य में ला डाले बिना चैन नहीं लेते थे। वे उस समय जालन्धर आर्यसमाज के प्रधान थे। एक शुभ अवसर निकाल कर आर्यसमाज-मन्दिर में बहुत से आर्य सभासदों और दो-तीन सौ दर्शकों की उपस्थिति में कई

रहतिए भाई शुद्ध करके आर्यसमाज में शामिल कर लिए गए। उपस्थित सभासदों ने उनके हाथ से हलुआ खाया और जल पिया। हिन्दू जाति के लिए यह एक नई चीज़ थी। सनातन-धर्म सभा ने इस मामले को लेकर जनता को खूब भड़काया, जिसके फलस्वरूप बहुत से आर्यसमाजी बिरादरी से खारिज किए गए। इस प्रकार समाज-सुधार के युद्ध में एक नया पर्व शुरू हुआ।

यह तो थी घटना। लाहौर के ट्रिब्यून के सम्पादक को इस पर एक मज़ाक सूझा। पहली अप्रैल के पर्चे में उसने एक सनसनीपूर्ण समाचार बनाकर प्रकाशित किया। समाचार का सारांश यह था—जालन्धर से समाचार मिला है कि वहाँ हिन्दू जनता रहतियों की शुद्धि से विक्षुब्ध होकर आर्यसमाज के प्रधान लाला मुन्शीराम के मकान पर चढ़ गई। उनको पकड़ लिया और समाज-मन्दिर में घसीट ले गई। वहाँ जाकर लोगों ने उन्हें रस्सियों से बाँध दिया और समाज-मन्दिर में जो पीपल का पेड़ है, उससे लटका दिया गया। इतनी कहानी लिखकर सम्पादक ने यह टिप्पणी दी कि लोग इतने भोले हैं कि यदि अप्रैल की पहली तारीख को उपर्युक्त समाचार प्रकाशित किया जाए तो उसे भी सत्य मान लेंगे। जब एक अप्रैल के प्रातःकाल ट्रिब्यून का पर्चा लोगों के हाथ में पहुंचा तो वे बड़ी दिलचस्पी से उस समाचार को पढ़ गए। हितैषी घबरा उठे और विरोधी बगल बजाने लगे, परन्तु अन्तिम पंक्तियाँ पढ़ने का शायद दो-चार ने ही कष्ट उठाया हो। सारे लेख के अन्त में ए० एफ० (अप्रैल फूल) लिखा हुआ था। पाठक समझ सकते है कि इस सम्पादकीय हथकण्डे ने कितनी व्यापक हलचल पैदा की होगी। कई दिनों तक तार और पत्र आते रहे, जिन सबके उत्तर पिताजी ने अपनी आदत के अनुसार अवश्य दिए होंगे। वे किसी पत्र को उत्तर दिए बिना नहीं छोड़ते थे।

समाज-सुधार के इस आक्रमणात्मक कार्य को ट्रिब्यून के मज़ाक से प्रसिद्धि मिली और अख़बार पढ़ने वाले लोगों की जिह्वा पर पिताजी का नाम चढ़ने लगा।

मैं लिख चुका हूँ कि पिताजी के दफ्तर के रोशनदान हवेली के आँगन में खुलते थे। जब कभी दफ्तर या दफ्तर के बरामदे में जोर की बातचीत होती थी तो उसकी भनक आँगन में पहुँच जाती थी। एक दिन की बात है कि आँगन में जोर-जोर से बोलने की आवाज सुनाई देने लगी, जिससे हम लोगों को दो से अधिक स्वर मिले हुए प्रतीत होते थे। दो स्वर तो पहचाने हुए थे। एक पिताजी का था, दूसरा हमारे मामा लाला देवराज जी का। बीच-बीच में एक तीसरा स्वर भी सुनाई देता था। तीनों के स्वर काफी ऊँचे और तेज थे, जिनमें हम लोगों ने अनुमान लाया कि कोई झगड़ा हो रहा है। पिताजी से कोई झगड़े, यह हम बच्चों के लिए नई बात थी। यूँ तो सभी बच्चे छोटी

उम्र में अपने पिताओं को संसार में सब से अधिक शक्तिशाली और समझदार मानते हैं (यद्यपि बड़ी उम्र में ज्ञानलवदुर्विदग्ध होकर उनकी सम्मति बदल जाती है), परन्तु हमारे लिए तो पिताजी का किसी से झगड़ना बहुत ही असाधारण चीज़ थी। वे घर में कभी किसी को गुस्से तक नहीं होते थे। यह जानकर कि कोई उनसे झगड़ रहा है, हम दोनों भाई देखने और ख़बर लाने के लिए भागकर बाहर गए और बैठक में छुपकर सुनने लगे। हम ने जो कुछ सुना, उससे उस समय इतना ही समझ में आया कि झगड़ा कन्या महाविद्यालय के सम्बन्ध में है और पिताजी और मामा जी के अतिरिक्त तीसरे सज्जन द्वाबा हाई स्कूल के हैडमास्टर मास्टर लक्ष्मणदास जी हैं। पिताजी मास्टर लक्ष्मणदास जी का समर्थन कर रहे थे। मामा जी बहुत विक्षुब्ध थे और अन्त में मास्टर जी से यह कहते हुए चले गए कि खैर, तुमने मुझे सब कुछ कह लिया, अब मैं तुम्हें कोट किशनचन्द में देख लूंगा!

शायद पाठकों को सब बातें समझने में आसानी हो, यदि मैं कुछ थोड़ा सा वृत्तान्त अपने नानके (ननसाल) का सुना दूँ। नाना जी जालन्धर के बहुत बड़े, शायद अपने समय में जालन्धर के सबसे बड़े रईस थे। रईसों के पास जो कुछ होता है, वह सब कुछ उनके पास था। शहर के बाहर उनकी हवेली थी, जिसके साथ लगता हुआ 'कोट किशनचन्द' नाम का मुहल्ला था, उसके अधिकांश के मालिक वही थे। मैंने जब होश सम्भाला, तब हमारे तीन मामा विद्यमान थे। बड़े मामा देवराज जी को सारा देश कन्या महाविद्यालय जालन्धर के संस्थापक और जीवनपर्यन्त सञ्चालक के रूप में जानता है। दूसरे मामा रायज़ादा भगतराम जी थे, जो अपने समय में पंजाब के मूर्धन्य फौजदारी वकील समझे जाते थे। उनके बारे में यह जनश्रुति मशहूर थी कि जब कोई जाट गाँव की लड़ाई लड़ने के लिए घर से निकलता था और कोई हितैषी उसे यह कहकर रोकता था कि भाई, लड़ो मत, किसी को मार दोगे तो फाँसी चढ़ जाओगे, तो वह यह उत्तर देकर लड़ने चला जाता था कि कोई डर नहीं, जालन्धर जाकर भगतराम को वकील कर लूंगा, वह छुड़ा लेगा। मामा भगतरामजी बैरिस्टर थे।

तीसरे मामा हंसराज जी, पंजाब के प्रसिद्ध कांग्रेसी नेता वे और बहुत वर्षों केन्द्रीय संसद् के कांग्रेसी सदस्य रहे। सबसे बड़े मामा मेरे होश से पहले स्वर्गवासी हो गए थे। इन चार भाइयों की एक ही बहिन थी और वह हम चार भाई-बहिनों की माँ थी। मेरी स्मृति पर उनका कोई चिह्न नहीं है। यह उस समय का दोष समझें या आकस्मिक दुर्घटना मानी जाए कि माताजी का कोई चित्र भी विद्यमान नहीं है। दादा जी के और नाना जी के चित्र तो हैं, इसलिए समय को अधिक दोष क्या दें; अतः इसे आकस्मिक दुर्घटना

समझकर ही सन्तोष कर लेना उचित प्रतीत होता है।

इतना विषयान्तर करके अब मैं उस घटना पर आता हूँ, जहाँ से मैंने बात शुरू की थीं। पिताजी का और मामा जी का झगड़ा बहुत ही आश्चर्य में डालने वाला था, क्योंकि दोनों लगभग इकट्ठे ही आर्यसमाजी बने, इकट्ठे ही समाज की सेवा में संलग्न हुए, और कन्या महाविद्यालय का प्रारम्भ भी दोनों के सम्मिलित प्रयत्न से ही हुआ। ऐसे साथियों में किन कारणों से मनमुटाव पैदा हुआ, इस प्रश्न का उत्तर देने का यह स्थान नहीं है। यहाँ तो केवल इतना ही बतलाना प्रसंगागत है कि पिताजी और मामा जी के परस्पर झगड़े से हम बच्चे बहुत ही खिन्न हुए थे, क्योंकि उसके कारण हमारा कोट में भावो जी (नानी जी) के पास जाना रुक सा गया था। सब परिवार वाले नानी जी को भावो जी कहते थे। वे सबसे बहुत प्यार करती थीं और सारा परिवार भी उनसे बहुत प्यार करता था। हम लोगों के लिए कोट में सबसे बड़ा आकर्षण उन्हीं का था।

मामा जी का पिताजी से उस समय जो मतभेद आरम्भ हुआ, वह समय के साथ अधिक विस्तृत और गहरा ही होता गया। यहाँ तक कि उन दोनों प्रारम्भिक साथियों के दृष्टिकोण प्रायः सभी व्यावहारिक विषयों में अलग-अलग हो गए। पिताजी के आगामी सामाजिक जीवन में बन्धुओं के इस मतभेद का काफी प्रभाव दिखाई देता रहा।

इस परिच्छेद को मैं एक छोटी सी घटना के संस्मरण के साथ समाप्त करता हूँ। पारिवारिक बन्धनों को तोड़कर समाज-सेवा के खुले क्षेत्र में स्वतन्त्र घूमने के लिए जिस मानसिक तैयारी की आवश्यकता थी, वह उस घटना से पूरी हो गई थी। हमारे घर पर एक विधवा विवाह हुआ। डाक्टर गुरुदत्त जी (स्वामी आत्मानन्द मुमुक्षु) एक दृढ़ आर्य युवक थे और श्रीमती सुमित्रा ईसाइयों से आई हुई एक सुशिक्षित देवी थीं। जिनका दोष हिन्दू समाज की दृष्टि में इतना ही था कि वे विधवा थीं। उस समय विधवा-विवाह हिन्दुओं के लिए ही नहीं, आर्यसमाजियों के लिए भी एक नयी और साहसिक चीज़ थी। नयी और साहसिक चीज़ को कर डालना पिताजी का स्वभाव था। उन्होंने लड़की के पिता बन कर कोठी पर वैदिक रीति से डाक्टर गुरुदत्त जी का सुमित्रादेवी जी से विवाह करा दिया। इस विवाह का हमारे परिवार में घोर विरोध हुआ। सबसे अधिक तीव्र विरोध हमारी तायीजी ने किया, जिनकी धार्मिक भावनाओं को इससे भारी ठेस पहुँची। हमारे नानके (ननसाल) की ओर से भी इस विवाह का विरोध हुआ। इन दोनों विरोधों की परवाह न करके पिताजी ने अपने घर पर विधवा-विवाह तो रचा दिया, परन्तु तायीजी और अन्य सम्बन्धियों के व्यवहार से पिताजी के हृदय पर बहुत गहरी चोट लगी। उस चोट का क्या परिणाम हुआ—यह पाठक अगले परिच्छेद में पढ़ेंगे।

आठवाँ परिच्छेद

सर्वमेधयज्ञ की प्रस्तावना

मेरे बचपन की स्मृतियों की शृंखला जहाँ तक पहुँच चुकी है, उसके आगे की कुछ समय की स्मृतियाँ बहुत बिखरी हुई हैं, परन्तु फिर भी एक नई शृंखला में बँधी हुई हैं। घर में रहते हुए जो जीवन बिताया, वह पिताजी की स्मृतियों के कारण कुछ घटनापूर्ण सा प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः वैसा ही थी, जैसा निन्यानवे फीसदी बच्चों का होता है। घर में खेलना-कूदना, स्कूल में पढ़ने जाना, शरारत पर डांट खाना और त्योहारों पर इनाम पाना, यही बच्चों की रिवाजी दिनचर्या है, हमारी भी यही थी। पिताजी की दिनचर्या असाधारण अवश्य थी, परन्तु उस समय हम लोग उसका कोई महत्त्व नहीं समझते थे। तायीजी के बार-बार कहने से इतना ही समझते थे कि 'बाबू जी बाहर के कामों में अधिक लगे रहते हैं और घर की ओर कम ध्यान देते हैं।'

मेरी अवस्था उस समय लगभग आठ वर्ष की होगी, जब पिताजी के जीवन का हम लोगों के जीवन पर दृश्यमान असर पड़ने लगा। जैसे एक बड़े जहाज़ के पीछे बँधी हुई छोटी नौकाएँ हठात् समुद्र में इधर से उधर अठखेलियाँ करती हैं, उसी प्रकार आने वाले कुछ वर्षों में हम ('हम' से अभिप्राय हम दोनों भाइयों से है) भी पिताजी के जीवन में उठती हुई लहरों पर, इधर से उधर और उधर से इधर घटनाचक्र के साथ घूमते रहे। उस समय तक हम केवल इतना ही जानते थे कि पिताजी घर में अनुपस्थित रहते हैं और उन्हें आर्यसमाज का काम अधिक रहता है। अब हम यह भी अनुभव करने लगे कि पिताजी घर को छोड़ते जाते हैं और किसी ऐसी दिशा में जा रहे हैं, जिधर हमारे समवयस्क अन्य बालकों के पिता नहीं जा रहे।

पिताजी के जीवन में क्रान्ति के बीज बहुत काल से बोये जा चुके थे। बरेली में ऋषि दयानन्द के दर्शनों ने क्रान्ति का जो बीज बोया, वह धीरे-धीरे अंकुरित होकर पल्लवित हो रहा था। उस घटनाचक्र ने, जिसकी अन्तिम सामाजिक घटना आर्य-पथिक पं० लेखराम जी की मृत्यु के बाद आर्यसमाज का महात्मा और कालिज पार्टियों में घरू संघर्ष का फिर से फूट पड़ना था और अन्तिम पारिवारिक घटना डा० गुरुदत्त जी का विवाह था, पिताजी के जीवन को एकदम नई धारा में डाल दिया। क्रान्ति का प्रवाह तीव्र हो गया, जिसकी टक्कर से घर-गिरस्थी की रिवाज़ी दीवारें धड़ाधड़ गिरने लगीं।

अब मैं संक्षेप में बाल्यस्मृति के उन टुकड़ों को पाठकों के सम्मुख

रखता हूँ, जो एक विशाल सर्वमेधयज्ञ की स्मृतियाँ होती हुई भी उस समय हमारे लिए केवल छोटी-छोटी घटनाएँ थीं।

पिताजी प्रायः लाहौर जाते रहते थे। अधिकतर आर्यसमाज के काम से और कभी-कभी मुकदमों के प्रसंग में लाहौर जाते थे तो दूसरे या तीसरे दिन वापिस आ जाते थे। वापिस आने की गाड़ी की सूचना जाते हुए दे जाते थे। ठीक समय पर घोड़ागाड़ी स्टेशन पर पहुँच जाती थी। पिताजी के घर आने की सूचना हम लोगों को अनायास ही मिल जाती थी, क्योंकि गाड़ी पर से उतार कर बिस्तर और यात्रा का अन्य सामान अन्दर लाया जाता था।

एक दिन हम लोग बहुत आश्चर्यित हो गए, क्योंकि पिताजी का सामान गाड़ी से उतार कर घर नहीं लाया गया। कोचवान ने अन्दर आकर कहा कि 'बाबू जी ने अपना सामान समाज-मन्दिर में ही उतरवा लिया है और कहा है कि घर पर जाकर ख़बर कर दो।' बाबू जी घर पर नहीं आये और समाज-मन्दिर में उतर गए हैं, इस समाचार ने घर-भर में तलहका सा मचा दिया। तायीजी पहले तो स्तब्ध सी रह गईं, फिर पिताजी के इस कार्य के अनौचित्य पर काफी ज़ोरदार टिप्पणी करने लगीं। हम चारों बच्चे घबराकर तायीजी के चारों ओर इकट्ठे हो गए, नौकर जिसका नाम रणुआ था, एक ओर खड़ा आँखों से आँसू बहा रहा था। हमारे ताया जी, जो परिवार के मौनधारी सदस्य थे, कुछ समय पीछे हाथ में हुक्का लिए हुए ड्योढ़ी से घर के अन्दर आए और तायीजी को दिलासा देने लगे। जहाँ तक मुझे याद है, उनके दिये हुए दिलासे का यह सारांश था कि 'मुन्शीराम हमेशा से ऐसा ही रहा है। जो दिल में आता है, वही करता है। तुम चिन्ता न करो, अपने-आप घर आ जाएगा।' परन्तु तायीजी घर के मामले में ऐसे वैराग्य से सन्तुष्ट होने वाली नहीं थी। उन्हें यह सन्देह हुआ कि पिताजी किसी बात से नाराज़ होकर घर में नहीं आ रहे हैं। कुछ समय के पश्चात् उन्होंने निश्चय किया कि समाज-मन्दिर में जाकर नाराज़गी का कारण पूछा जाए। तायीजी का निश्चय हो जाने पर ताया जी के लिए कोई समस्या शेष न रही। उन्होंने अपना हुक्का ताज़ा कराया और चारपाई पर बैठकर उस आनन्द का अनुभव करने लगे, जिसे केवल अफीम या हुक्के का भक्त ही कर सकता है।

तायीजी ने नौकर को आर्यसमाज मन्दिर में यह पूछने के लिए भेजा कि हम लोग मिलने के लिए आना चाहते हैं, कोई रुकावट तो नहीं है। मैं पहले बतला चुका हूँ कि हमारी कोठी और समाज-मन्दिर के बीच में केवल पक्की सड़क थी। रणुआ पाँच-सात मिनट में ही लौट आया। वह उत्तर लाया कि मिलने में कोई रुकावट नहीं है। हम लोग तब तक तैयार हो चुके थे। तायीजी भी उस समय के रिवाज के अनुसार रेशमी घाघरा पहिन और

ओढ़नी ओढ़ कर आगे-आगे चलीं, हम चारों भाई-बहिन पीछे-पीछे कुछ घबराते हुए से चले और अन्त में हमारा नौकर रणुआ चला।

पिताजी समाज-मन्दिर के द्वार पर प्रतीक्षा कर रहे थे : वह गम्भीर मुद्रा में थे। तायीजी की घबराहट देखकर शान्त करते हुए प्रारम्भ में ही उन्होंने कहा—

"भाभी, मैंने लाहौर में प्रतिज्ञा कर ली है कि जब तक गुरुकुल बनाने के लिए 30 हज़ार रुपया इकट्ठा न कर लूँगा, तब तक घर में पैर नहीं रखूँगा। इसी कारण समाज में ठहरा हूँ, घबराने की कोई बात नहीं। भाय्या जी (पिताजी ताया जी को भाय्या जी कहा करते थे) घर में हैं ही। कोई चिन्ता मत करो।"

इस आश्वासन से तायीजी का मन थोड़ा-बहुत शान्त हो गया और उन्हें शान्त देखकर हम लोग भी शान्त हो गए। यह सर्वमेधयज्ञ का प्रथम चरण था।

पिताजी चन्दे के लिए देश-भर में पर्यटन करने लगे। उनके पीछे सद्धर्म-प्रचारक का सम्पादन लाला वज़ीरचन्द और प्रेस का प्रबन्ध लाला बस्तीराम करते थे। बकालत के मुन्शी उदयसिंह छुट्टी पर चले गए और घर की गाड़ी पुरानी लीक पर तायीजी के नेतृत्व में चलने लगी। घर वही था, परन्तु उस घर का मध्य भाग, बगीची, दफ्तर, बैठक और अतिथि-गृह में सुनसान हो जाने से चारों ओर सन्नाटा प्रतीत होता था। बच्चों को बगीची में से गुज़रते डर लगता था।

कुछ दिनों तक (शायद दो या तीन महीनों तक) ढर्रा यूँ ही चलता रहा। उसके पश्चात् हम दोनों भाइयों के लिए पिताजी का आदेश आ गया कि 'हरीश और इन्द्र को गुजरांवाले की वैदिक पाठशाला में भेज दिया जाए।' इस आदेश से हम दोनों भाइयों की जीवनधारा का मार्ग सर्वथा बदल गया। इस समय हरिश्चन्द्र जी द्वाबा स्कूल की सातवीं श्रेणी में पढ़ रहे थे और मैं छठी में पढ़ रहा था। हम दोनों स्कूल से उठा लिए गए, और एक सज्जन के साथ, जिनका नाम मैं इस समय भूल गया हूँ, गुजरांवाला भेज दिए गए।

गुजरांवाला की पाठशाला कुछ वर्ष पूर्व जालन्धर के आर्यसमाज-मन्दिर में खोली गई थी। वहाँ से आर्य प्रतिनिधि सभा की आज्ञा से वह गुजरांवाला ले जाई गई।

मेरे मन में उस पाठशाला की प्रारम्भिक स्मृतियाँ बहुत हरी हैं। गुजरांवाला के पहले दिन की अधिकतर बातें ऐसी याद हैं, जैसी कल हुई हों। पाठशाला एक मन्दिर के साथ वाले बाग में थी। सारी पाठशाला में छोटे बच्चे हम ही थे। पाठशाला के प्रधान अध्यापक तथा आचार्य गुरुवर पं० गंगादत्त जी महाराज थे, जिन्होंने हम दोनों का यज्ञोपवीत संस्कार जालन्धर में कराया था। बड़े

छात्रों में से कुछ उल्लेखयोग्य नाम निम्नलिखित हैं—पं० विष्णुमित्र जी, पं० नरदेव जी शास्त्री, पं० भगतराम जी डिगा-निवासी, पं० दीनानाथ जी। नाम तो और भी याद हैं, परन्तु उनकी स्मृति वहीं तक परिमित है। दृश्य-परिवर्तन के साथ वे तिरोहित हो जाते हैं, इस कारण उनका उल्लेख सार्थक नहीं होगा। गुरुवर पं० गंगादत्त जी, पं० विष्णुमित्र जी और पं० नरदेव जी की चर्चा भावी जीवन में आयेगी। पं० भगतराम जी आर्यसमाज के उपदेशक बने और गुरुकुल में अध्यापक-रूप में भी कुछ समय तक रहे। पं० दीनानाथ जी हमारे गाँव (तलवन) के पुरोहित या पंजाबी भाषा में 'पाधे' थे। विशेष रूप से उनका स्मरण रहने का कारण यह है कि वैदिक पाठशाला में पहुँचने पर संस्कृत का पहला पाठ उन्हीं से प्राप्त हुआ था। हम दोनों भाई चटाई उठाकर उनके पीछे-पीछे आश्रम के बाहर तालाब के किनारे पर गए और वहाँ एक बुर्जी के नीचे चटाई बिछाकर बैठ गए। पं० दीनानाथ जी ने, जो तब विद्यार्थी थे, हमें निम्नलिखित श्लोक याद कराया—

आत्मानं यदि निन्दन्ति, स्वात्मानं स्वयमेव हि।
शरीरं यदि निन्दन्ति, सहायास्ते तदा मम॥

इस प्रकार मेरे जीवन के नए परिच्छेद की प्रथम पंक्ति पं० दीनानाथ जी के अध्यापकत्व में उपर्युक्त सुन्दर श्लोक के साथ लिखी जानी प्रारम्भ हुई।

नवाँ परिच्छेद

पुण्यभूमि में कैसे पहुँचे ?

शीत ऋतु के अन्तिम दिन थे। सायंकाल के चार बजे के लगभग हम कोई एक दर्जन बच्चे पंजाब से आने वाली गाड़ी से हरिद्वार के स्टेशन पर उतरे। हम गुजरानवाला से पिताजी के साथ आए थे। जालन्धर से हमारी मण्डली में भण्डारी शालिग्राम जी दो-तीन बच्चों को साथ लेकर सम्मिलित हो गए थे। स्टेशन पर आचार्य पं० गंगादत्त जी कई सज्जनों के साथ स्वागत के लिए आए हुए थे।

जब हम लोग स्टेशन पर उतर कर सामान के पास बैठे तो कुछ ईसाई पादरी और पादरिने हमारे वेश से आकृष्ट होकर वहाँ आ गए। सब बालकों ने धोती का एक छोर बाँधा हुआ और एक छोर गले में डाला हुआ था। शरीर पर कुरता था और हाथ में एक-एक लाठी थी। वे हमें कुछ देर तक ध्यान से देखने और आपस में चर्चा करने के बाद पिताजी के पास जाकर पूछताछ करने लगे। हमें उन्होंने किसी मिशनरी संस्था के बालक समझा और हम लोगों के स्वास्थ्य की प्रशंसा की।

स्टेशन से निकल कर एक जुलूस बनाया गया। सबसे आगे पिताजी और पं० गंगादत्त जी थे, उनके पीछे महर्षि दयानन्द का बड़ा चित्र लिए एक सज्जन थे, जिनका नाम तोताराम था। उनके पीछे दो-दो की पंक्ति में हम लोग थे। स्टेशन से निकलते ही हम लोगों ने प्रार्थना के आठ मन्त्रों का उच्च स्वर से पाठ आरम्भ कर दिया और निरन्तर करते रहे,जब तक जुलूस कनखल से पार न हो गया। हम लोग स्टेशन से चलकर मायापुर के पुल से उतर कर कनखल के बाज़ार में पहुँचे, और सारे बाज़ार का चक्कर काटते हुए दक्ष के मन्दिर पर जा पहुँचे। इस सारे रास्ते में सब लोग निरन्तर वेदमन्त्रों का उच्च स्वर से पाठ करते रहे। हरिद्वार और कनखल तब मुख्य रूप से यात्रियों और पण्डों के शहर थे। वे सनातन-धर्म के गढ़ समझे जाते थे। अब तो धीरे-धीरे उनमें कुछ नवीनता का संचार हो गया है, पर उस समय तो वे सनातनता के स्तम्भ थे। ओ3म् के झण्डे और वेदमन्त्रों के खुले पाठ को वे बहुत ही आश्चर्यभरी दृष्टि से देख रहे थे। वे हम लोगों को किसी दूसरी दुनिया के प्राणी समझ कर विनोद अनुभव कर रहे थे। दक्ष का मन्दिर पार करके हमने वेदपाठियों का रूप छोड़ कर यात्रियों का रूप धारण कर लिया। हम गुजरानवाला में ही सुन चुके थे कि हरिद्वार के समीप गंगा के उस पार काँगड़ी

नामक ग्राम गुरुकुल के लिए दान में मिला है। हम लोग वहीं ले जाए जा रहे थे। बच्चों के लिए सब कुछ नया था। दक्ष के मन्दिर से आगे चलने ही रास्ता गंगा की रेती में उतर गया, जहाँ गोल पत्थरों और बालू के दो मील चौड़े नदी के स्तर पर दो-तीन पुल बने हुए थे। सूर्य अस्ताचल पर पहुँच चुका था और अन्धकार के साथ सर्दी आकाश से उतर रही थी। हम बालक नई दुनियाँ देखने की उत्सुकता से प्रेरित होकर नंगे पाँव उस पत्थर और बालू के मार्ग पर तेज गति से चले जा रहे थे।

अन्धकार बहुत देर तक न रहा। या तो पूर्णिमा थी या प्रतिपदा, गंगा के स्तर से पार होते-होते आकाश में चाँदनी छिटक गई, जिसके प्रकाश में हमें स्तर से आगे फैला हुआ घना जंगल और उसकी पृष्ठभूमि पर नीलगिरि के शिखर दिखाई दिए।

जंगल के कँटीले रास्तों से हम लोग आगे बढ़ते जा रहे थे कि इतने में पीछे से एक आवाज आई—

"प्रधान जी, हम तो रास्ता भूल गए। यह तो पगडण्डी गुरुकुल की नहीं, यह तो कांग्रड़ी ग्राम की है।"

पिताजी गुरुकुल में 'प्रधान जी' इस नाम से कहलाते थे, क्योंकि वे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान रह चुके थे, और गुरुकुल में भी प्रधान थे।

यह सुनकर पिताजी ने कहा—"तब तो हमें काँगड़ी के नाले से होकर जाना पड़ेगा। मग्घरसिंह से कहो कि एक लालटेन लेकर आगे-आगे चले।" मग्घरसिंह नाम हम लोगों के कानों को अजीब सा मालूम हुआ। हम सब बच्चे उस नाम पर मुस्कराए। थोड़ी देर में मग्घरसिंह मिस्तरी लालटेन हाथ में लटकाए आगे-आगे हुआ और तीर्थ-यात्रियों की लम्बी पंक्ति उसके पीछे खैरों के काँटों को रौंदती हुई चली।

जिस समय वह निशा-यात्रा समाप्त हुई, आकाश में चाँदनी के धवल प्रकाश में जो सुन्दर दृश्य दिखाई दिया, वह अब तक भी भूला नहीं है। घने जंगल के बीचो-बीच कोई दो बीघे का मैदान साफ किया गया था। उसमें एक और फूस के छप्परों की एक लम्बी पंक्ति थी, जो छात्रों के रहने का आश्रम-स्थान था। उसके साथ समकोण बनाती हुई दूसरी छप्परों की पंक्ति में भोजन-भण्डार था। उनके बीच के कोने में एक स्विस काटेज लगा हुआ था, जो प्रधान जी का दफ्तर भी था और रहने का स्थान भी। इन छप्परों से कुछ दूर दो छप्पर डालकर गोशाला बनाई गई थी। यह फूस के छप्पर का डेरा उस खिली हुई चाँदनी में अद्भुत शोभा दिखा रहा था। हमें उस समय ऐसा अनुभव हुआ कि हम सचमुच स्वर्ग के किसी टुकड़े पर पहुँच गए हैं। वह गुरुकुल का प्रारम्भिक रूप था।

गुजरानवाला शहर से चलकर हम लोग काँगड़ी ग्राम की शोभन भूमि पर कैसे पहुँच गए, इसका किस्सा सुनाने के लिए मुझे थोड़ा सिंहावलोकन करना पड़ेगा।

मैं पहले बतला आया हूँ कि पिताजी यह प्रतिज्ञा करके देश के दौरे पर निकल पड़े थे कि जब तक तीस हज़ार रुपये की राशि इकट्ठी न हो जाए, तब तक घर वापस न जाऐंगे। आज तीस हज़ार रुपया इकट्ठा करना बच्चों का खेल मालूम होता है, परन्तु तब गुरुकुल के लिए तीस हज़ार की राशि एकत्र करना असम्भव सा प्रतीत होता था। जब हितैषियों ने पिताजी की प्रतिज्ञा सुनी तो यह समझा कि इस व्यक्ति का दिमाग फिर गया हैं। लोग यह भी नहीं जानते थे कि 'गुरुकुल' किस चिड़िया का नाम है। रुपया भी बहुत महँगा था, परन्तु आर्य जनता को असाधारण हर्ष हुआ, जब उन्हें सूचना मिली कि लगभग छः महीने में दान की राशि तीस हज़ार से बढ़ गई है।

हम दोनों भाई तब गुजरानवाला के स्थायी गुरुकुल में पढ़ते थे। आर्य प्रतिनिधि सभा ने गुजरानवाला की वैदिक पाठशाला को स्थायी गुरुकुल के रूप में परिणत कर दिया था। वह संस्था शहर से लगे हुए एक मकान में थी। हम लोगों को चन्दे की राशि पूरी होने का समाचार गुजरानवाला गुरुकुल में ही मिला। इसी बीच में एक बार हमारे ताया जी गुजरानवाला आए और दोनों भाइयों को लाहौर ले गए। गुरुकुल के चन्दे का दौरा लगभग समाप्त कर पिताजी लाहौर के आर्य होटल में ठहरे हुए थे। हम दोनों भाई उस रात जीवन में पहली बार अपने पिताजी के दोनों ओर चारपाइयों पर सोए। उस रात सोने से पहले पिताजी हमारी चारपाइयों पर आए और प्रत्यक्ष में प्यार किया। वह अनुभव हमारे बाल्य-जीवन में बिल्कुल अपूर्व था, अन्यथा सदा पिताजी हम से दूर-दूर रहकर वात्सल्य-भाव रखते रहे। कभी उसे अनुभव में नहीं आने दिया। उस रात उन्होंने प्रेम से हम दोनों के सिरों को चूमा। हम दोनों भाइयों ने उस समय मानो स्वर्गीय सुख का अनुभव किया।

अगले दिन हम लोग गुजरावाला वापिस भेज दिए गए और पिताजी प्रतिज्ञा पूरी करके अपने घर वापिस आ गए। जालन्धर में उनका अभूतपूर्व स्वागत हुआ। उस के पश्चात् उन्होंने कोठी में प्रवेश किया, परन्तु वह प्रवेश त्याग के लिए था, भोग के लिए नहीं। त्याग की ओर उनकी प्रवृत्ति तो पहले ही बढ़ रही थी। सिगरेट, हुक्का और पान तक एक के पीछे दूसरा विदा हो चुके थे। कोट, पैण्ट और नकटाई उन लोगों में बाँट दिए गए थे, जिन्हें उनकी आवश्यकता थी, और बूट की जगह गामाशाही जूता आ गया था। यह कायापलट गुरुकुल काँगड़ी में जाने से पहले ही हो चुका था। हमारे नाना रायसाहिब सालिगराम जी पुराने ढंग के रईस थे। व्यवहार में बहुत उदार,

परन्तु विचारों में बिल्कुल कन्ज़र्वेटिव थे। कन्ज़र्वेटिव शब्द का प्रयोग मैंने जान-बूझ कर किया है। अनुदार, सनातनी, दकियानूसी शब्दों में से कोई भी उन पर ठीक नहीं लगता था। कायापलट के पहले अध्याय के समाप्त होने पर पिताजी हाथ में लोटा लेकर और पैर में जूता पहिन कर, प्रात:काल के समय घर से दूर जंगल में शौचार्थ जाने लगे थे। उनका रास्ता हमारी ननसाल के सामने से होकर गुज़रता था। एक दिन पिताजी को नाना जी ने उस बाने में देख लिया। सुनते है, उस दिन नाना जी की आँखों में आँसू बह निकले थे। उन्होंने दुःखी होकर कहा—"की करिए, मुण्डा साधु हो गया (क्या करें, लड़का साधु हो गया)।"

उन्हीं दिनों पिताजी को बिजनौर जिले से सन्देश प्राप्त हुआ कि वहाँ के एक जमींदार मुन्शी अमनसिंह जी गंगा पार का एक पूरा गाँव, जिसके साथ लगभग 700 बीघे ज़मीन है, गुरुकुल बनाने के लिए देना चाहते हैं। प्यासे को मानो पानी का ठण्डा स्रोत मिल गया। पिताजी तो ऐसी भूमि की तालाश में ही थे। वह तुरन्त बिजनौर गए और आर्य प्रतिनिधि सभा के नाम काँगड़ी ग्राम रजिस्ट्री करवा लिया।

गाँव गंगा की धार से लगभग डेढ़ मील की दूरी पर शिवालक पहाड़ की तलहटी में था। गाँव के साथ लगी हुई भूमि पहाड़ की तलहटी से लेकर गंगा-तट तक फैली हुई थी। पिताजी को गुरुकुल के लिए वह स्थान आदर्श प्रतीत हुआ। गाँव से दूर ठीक गंगा-तट पर घने और कँटीले जंगल के मध्य में लगभग दो बीघा ज़मीन के टुकड़े को साफ कराकर उसमें आश्रम के लिए छप्पर डालना थोड़े ही दिनों का काम था, विशेषतः जबकि पिताजी जैसा धुन का पक्का और अनथक आदमी उस कार्य को शीघ्र पूरा करने पर तुल गया हो।

जब छप्पर तैयार हो गए और पं० गंगादत्त जी आचार्य के रूप में बच्चों को सँभालने के लिए गुरुकुल काँगड़ी पहुँच गए, तब आर्य प्रतिनिधि सभा की अनुमति से पिताजी गुजरानवाला आए और लगभग दर्जन-भर बालकों को साथ लेकर लाहौर ठहरते हुए हरिद्वार की ओर रवाना हो गए।

यह था हमारे गुरुकुलीय जीवन का आरम्भ। पुण्यभूमि में पहुँचकर हमने क्या देखा, यह मैं पहले बतला ही चुका हूँ।

दसवाँ परिच्छेद

गुरुकुल के वे स्वर्णीय दिन

प्राय: सभी राष्ट्र अपने भूतकाल को स्वर्ण युग के नाम से पुकारते हैं। सभी व्यक्ति पूर्व पुरुषाओं पर मान करते हैं और सभी जातियाँ अपने गुज़रे हुए इतिहास से जीवन का पाठ पढ़ती हैं। इस सच्चाई का मनोवैज्ञानिक कारण क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर किसी तत्त्वज्ञान के पण्डित को देना चाहिए। मैं तो इस सच्चाई को केवल इस कारण दुहरा रहा हूँ कि मेरी गुरुकुल काँगड़ी सम्बन्धी प्रारम्भिक स्मृतियाँ इस सच्चाई की दृष्टान्तरूप हैं।

उस समय गुरुकुल काँगड़ी में केवल फूस के छप्पर थे। गुरुकुल के उद्‌घाटन के पश्चात् एक वर्ष के अन्दर कच्ची दीवारों और टीन के छतों वाले शैड बनने आरम्भ हो गए थे। हमारे रहने का स्थान खैर और बेरी के घने जंगलों से घिरा हुआ था। कहीं-कहीं बिल्व के पेड़ थे। जिन लोगों ने पुरानी गुरुकुल भूमि को देखा है, उन्हें मालूम है कि इन तीनों प्रकार के पेड़ों की बहुतायत के कारण वह जंगल वस्तुत: 'कण्टकाकीर्ण' शब्द का अधिकारी था। नीचे काँटे, ऊपर काँटे और चारों ओर काँटे । इस प्रकार वह जंगल कण्टकमय था, रहने के स्थान से दस कदम बाहर जाने के लिए काँटेदार पगडण्डियों को पार करना पड़ता था। रात को जब अन्धेरे का राज्य हो जाता था, तब कभी-कभी हमारे आश्रम के आँगन में और प्रधान जी (मुख्याधिष्ठाता जी) के तम्बू की छतरी के नीचे स्यारों का हुँकार सुनाई देता था। किसी-किसी दिन यह समाचार भी मिल जाता था कि कल रात को किसी कुत्ते या लबारे को गुलदार (छोटा शेर) उठा ले गया। स्नान के लिए सिर्फ गंगा की धारा थी और क्रीड़ा-क्षेत्र का काम गंगा-तट की बालू से लिया जाता था। ऐसी दुनिया में हम रहते थे, परन्तु आज भी लगभग पचास वर्ष बीत जाने पर मैं उन दिनों का स्मरण करता हूँ तो वे बहुत ही सुन्दर और सुखमय प्रतीत होते हैं। गुरुकुल में बहुत से परिवर्तन आते रहे। इमारत के रूप में परिणत हो गए, पगडंण्डियों का स्थान सड़कों ने ले लिया, स्नान के लिए स्नानागार बन गए और गुरुकुल की इमारतें, बगीचों और हरे मैदानों से घिर गईं तो भी यह ध्यान में नहीं आता कि गुरुकुल में हमने उतना आनन्द अनुभव किया हो, जितना उस प्रारम्भिक काल में किया था।

पहले उन दिनों की दिनचर्या सुनिए—प्रात:काल चार-साढ़े चार बजे दिन की पहली घण्टी बजती थी। उस पर सब ब्रह्मचारी या तो स्वयं ही उठ

जाते थे अथवा अधिष्ठाताओं द्वारा ही उठा दिए जाते थे। उठकर बिस्तर लपेटने, उसे यथास्थान रखते और फिर बाहर जाकर मुँह-हाथ धोते, और प्रार्थना के लिए एकत्र हो जाते। प्रार्थना 'विश्वानि देव०' आदि आठ मन्त्रों से की जाती थी। उसके पश्चात् अधिष्ठाताओं के साथ शौच आदि से निवृत्त होने के लिए जंगल में चले जाते थे। हमारे अधिष्ठाता आचार्य गंगादत्त जी थे, जिन्हें हम उन दिनों 'बड़े पण्डित जी' कहते थे। इन संस्मरणों में जहाँ कहीं बड़े पण्डित लिखा जाए, वहाँ आचार्य जी का ही ग्रहण करना चाहिए। पहली श्रेणी के अधिष्ठाता पं० विष्णुमित्र जी थे, जो 'छोटे पण्डित जी' कहलाते थे। प्रात:काल जब बड़े पण्डित जी के साथ हम लोग जंगल को जाएा करते थें, तब हम में से हरेक के पास निम्नलिखित सामान होता था—दाएँ हाथ में दण्ड, बाएँ हाथ में पानी से भरा लोटा और बगल में लिपटा हुआ जाँघिया और धोती। अधिष्ठाता के कपड़े प्राय: सबसे बड़े ब्रह्मचारी को ले जाने होते थे। यह कार्य प्राय: मेरे सबसे बड़े भाई हरिश्चन्द्र जी किया करते थे, क्योंकि वे ही हम सबसे बड़े थे।

नंगे पाँव पगडण्डियों से होकर जंगल में जाकर निवृत्त होते थे। प्रत्येक ब्रह्मचारी दण्ड की सहायता से अपने लिए दातुन तोड़ता था। फिर सब मिलकर गंगा पर चले जाते थे। गंगा की वह धारा, जो गुरुकुल भूमि के साथ बहती थी, नीलधारा कहलाती थी। उसका पानी बहुत शुद्ध माना जाता था, क्योंकि वह हरिद्वार की बस्ती के प्रवाह से बचकर चण्डी की पहाड़ी के नीचे से निकलता हुआ गुरुकुल के पास से गुज़रता था। वह वस्तुत: गंगा की छोटी धारा थी। बड़ी धारा वहाँ से लगभग एक मील दूर थी, जहाँ हम लोग कभी-कभी स्नान के लिए जाएा करते थे।

गंगा-तट पर पहुँच कर हाथ-मुँह धोते और लोटे साफ करते थे। उसके पश्चात् या तो रेत में कबड्डी खेलते और दण्ड-बैठक करते थे अथवा वर्षा ऋतु होने पर अखाड़े में कुश्ती लड़ते थे। व्यायाम हमारी दिनचर्या का मुख्य भाग था। दोनों समय व्यायाम होता था। दो-दो सौ दण्ड-बैठक निकालना साधारण बात थी। व्यायाम का कार्यक्रम लगभग एक घण्टा तक चलता था।

इस कार्यक्रम में विशेष रुचि का यह भी कारण था कि अधिष्ठाता लोग स्वयं भी व्यायाम में पूरा हिस्सा लेते थे। आचार्य गंगादत्त जी तो व्यायाम के बहुत ही पक्षपाती थे। और किसी काम से छुट्टी मिल सकती थी, परन्तु उनके प्रबन्ध में व्यायाम से छुटकारा पाना कठिन था। वह व्यायाम के सम्बन्ध प्राय: निम्नलिखित श्लोक कहा करते थे—

व्यायामक्षुण्णगात्रस्य पद्भ्यामभ्यर्दितस्य च,
व्याधयो नोपसर्पन्ति, पन्नगारेरिवोरगा:।

जिस मुनष्य का शरीर व्यायाम से थकाया गया है और जिसे पैरों के नीचे मसला गया है, उसके पास रोग इस प्रकार नहीं आते, जिस प्रकार गरुड़ के पास सर्प नहीं आते।

वह स्वयं अपने लिए इसी सिद्धान्त का पालन करते थे। बीमारी में भी, और वे उन दिनों बहुत कम बीमार होते थे, कुछ न कुछ व्यायाम किया करते थे। हम लोग भी बुखार या अपच जैसे साधारण रोगों में व्यायाम से मुक्त नहीं किए जाते थे। कुश्ती न सही तो दण्ड-बैठक ही सही, वह भी न हो सके तो कबड्डी ही सही, व्यायाम से पूरी छुट्टी मिलना असम्भव था।

व्यायाम के पश्चात् लगभग आध घण्टा विश्राम होता था। इसी विश्राम में दातुन भी कर डालते थे। स्नान का समय विशेष आनन्द का होता था। अत्यन्त सर्दियों को छोड़ कर शेष सब मौसमों में हम लोग गंगा का पूरा आनन्द लेते थे। हमारे उस समय के सभी अभिभावक (प्रधान जी, बड़े पण्डित जी और शेष सब कार्यकर्त्ता) तैरना जानते थे और सब बच्चों को तैरना सिखाना आवश्यक समझते थे। गुरुकुल काँगड़ी में तैराकी के जो प्रबल संस्कार अब तक भी चले आ रहे हैं, उनका प्रारम्भ वहीं से है। उस के पश्चात् यज्ञशाला में आकर सन्ध्या और हवन से निवृत्त होते थे। इस समय तक दिन अच्छी तरह चढ़ जाता था। हवन के पश्चात् प्रायः प्रतिदिन प्रधान जी यज्ञशाला में ही उपदेश देते थे। ये उपदेश इतने क्रियात्मक और सरल होते थे कि अब तक उनमें से बहुत-सों की रूपरेखा हमें स्मरण है।

उपदेश के बाद दूध की घण्टी बजती थी। प्रत्येक ब्रह्मचारी को लगभग आध सेर दूध दिया जाता था, साथ में कुछ नाश्ता भी मिलता था। व्यायाम से शरीर थक चुकने के पश्चात् यह प्रातःराश कुछ अधिक प्रतीत नहीं होता था। प्रातःराश हो जाने पर पढ़ाई के लिए बैठते थे। प्रातःकाल का समय मूल अष्टाधायी याद करने और उसकी वृत्ति आदि पढ़ने में व्यतीत होता था। हम लोगों को बड़े पण्डित जी ही व्याकरण पढ़ाते थे। अष्टाध्यायी, काशिका और महाभाष्य के वे पूरे पण्डित थे। प्रातःकाल की पढ़ाई प्रायः खाने की घण्टी के साथ समाप्त होती थी। भण्डारी सालिगराम जी स्वयं हाथ में घण्टी बजाने की लकड़ी लेकर भण्डार से निकलते थे। घण्टी बजाते जाते थे और जोर की आवाज से यह घोषणा करते जाते थे कि 'ब्रंह्मचारियों, जल्दी खाना खाओ।' अपना-अपना लोटा लेकर सब ब्रह्मचारी पंक्ति में आसनों पर बैठ जाते थे। खाना परोसने का कार्य भण्डारी और अधिष्ठाता लोग मिलकर करते थे। भोजन के आरम्भ में 'सहनाववतु०' वाला मन्त्र बोला जाता था।

जिस दिन विशेष भोजन के तौर पर खीर बनती थी, उस दिन खीर को ठण्डा होने का अवसर देने के लिए 'ओ३म् द्यौ शान्तिः०' इत्यादि मन्त्र बोला

जाता था। किसी-किसी दिन प्रधान जी स्वयं भोजन परोसने आ जाते थे। उस दिन यह मान लिया जाता था कि आज भण्डारी का दिवाला निकालना चाहिए, जिसका अभिप्राय यह था कि गुँधा हुआ आटा समाप्त हो जाना चाहिए। ज्यों ही यह घोषणा होती थी, भण्डारी जी को दूसरी बार आटा गुँधवाना पड़ा है तो ब्रह्मचारी तालियाँ बजाते और हँसते थे। खूब खाओ और खूब व्यायाम करो, यह उस समय का मूल मन्त्र था। उन दिनों गुरुकुल में कोई डाक्टर नहीं था, न कोई वैद्य ही था। जुकाम, खाँसी और बुखार जैसी बीमारियों को व्यायाम के जोर से और कब्ज जैसी शिकायतों को अधिक भोजन की सहायता से मिटाने का यत्न किया जाता था। उन दिनों और आजकल के सामान्य स्वास्थ्य को देखते हुए यह मानना कठिन है कि उस समय की अर्वाचीनता से शून्य चिकित्सा-प्रणाली सर्वथा बुरी थी, कम से कम परिणाम बुरा नहीं।

भोजन के पश्चात् कुछ विश्राम लेकर ब्रह्मचारी पढ़ाई में लग जाते थे। उस समय संस्कृत साहित्य, इतिहास और वस्तु-पाठ का शिक्षण होता था। अन्तिम दोनों विषयों का अध्यापन मास्टर सुन्दरसिंह जी करते थे। मास्टर जी अपने ढंग के अनोखे शिक्षक थे। बातचीत और कहानियों में ही बहुत-सी बातें सिखा देते थे। उनके विद्यार्थी उन्हें प्रायः 'मां' इस नाम से पुकारते थे और वे उन्हें बच्चों की तरह प्यार करते थे। जहाँ तक मुझे स्मरण है, छात्रों में स्पर्श थ्योरी के उद्भावक और उपरने लेकर कबड्डी खेलने के आविष्कारक मास्टर जी थे।

शाम को फिर प्रातःकाल की तरह जङ्गल जाने, व्यायाम करने और मौसम अनुकूल होने पर स्नान करने का क्रम शुरू हो जाता था। सन्ध्या-हवन के पश्चात् भोजन होता था, फिर थोड़ा सा टहल कर ब्रह्मचारी दियों की रोशनी में अष्टाध्यायी का पाठ दोहराने के लिए बैठ जाते थे। कई वर्षों तक गुरुकुल में सरसों के तेल के दिए ही जलते रहे। उस जंगली गुरुकुल को वर्तमान शहरी गुरुकुल के रूप में परिणत करने के लिए अनेक क्रान्तियाँ हुई, उनमें से एक यह भी थी कि सरसों के तेल का स्थान मिट्टी के तेल ने ले लिया। उन क्रान्तियों की कहानी अगले संस्मरणों में सुनाऊँगा। यहाँ तो केवल इतना लिखकर ही दिनचर्या के प्रसंग को समाप्त करता हूँ कि रात के लगभग 9 बजे फिर प्रार्थना होती थी। दिए बढ़ा दिए जाते थे और सारा गुरुकुल स्तब्धता में लीन हो जाता है। केवल एक चौकीदार पहरा देता था और घण्टे की टंकोर से समय की सूचना देता रहता था।

ग्यारहवाँ परिच्छेद

उस जीवन के सुख-दुःख

यह थी गुरुकुल के उस युग की दिनचर्या। शिक्षा पद्धति के प्राचीन या अर्वाचीन सिद्धान्तों की कसौटी पर यहाँ मैं कोई सम्मति नहीं देना चाहता। इस समय तो मैं संस्मरणों का संग्रह कर रहा हूँ, इस कारण इतना ही कह सकता हूँ कि स्मृति को टटोलने से वह समय बहुत ही मधुर प्रतीत होता है।

उस समय घर या कुल की भावना बहुत प्रबल थी। थोड़े से ब्रह्मचारी थे। प्रधान जी और बड़े पण्डित जी उन सभी को नाम से जानते थे, और दिन में कई बार मिलते थे। व्यायाम के समय, हवन और उपदेश के समय, भोजन के और सायंकाल को खेल के समय, प्रायः सभी कुलवासी इकट्ठे हो जाते थे। एक-दूसरे के सुख-दुःखों की सभी को ख़बर रहती थी। सब इकट्ठे ही हँसते थे और इकट्ठे ही रोते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि किसी शिक्षण-संस्था में कुल की भावना और छात्रों की परिमित संख्या का गहरा सम्बन्ध है, परन्तु यह स्मृति की चीज़ नहीं, विचार की चीज़ है। इस कारण इतना ही इशारा देकर आगे चलता हूँ।

उन दिनों हमारे छुट्टी के दिन कैसे बीतते थे, यह बता कर पाठकों को अपने आमोद का साझीदार बनाना भी आवश्यक मालूम होता है। सो किसी एक अनध्याय के दिन का पूरा विवरण सुन लीजिए। उस दिन सुबह की घण्टी देर से बजी थी। प्रतिदिन साढ़े चार बजे उठ कर नंगे पाँव खैर के जंगल में निवृत्त हो जाने वाले बालकों को आधे या पूरे घण्टे की फालतू नींद कितनी आनन्द देने वाली होती होगी, इसका प्रत्येक पाठक अनुमान लगा सकता है। छुट्टी के दिन व्यायाम के समय तेल की मालिश होती थी। स्नान आदि सब कार्यों में प्रतिदिन की अपेक्षा अधिक समय लगाने का अधिकार मिल जाता था। हवन के उपरान्त का कार्यक्रम मौसम के अनुसार बनता था। गर्मियों के दिनों में सब ब्रह्मचारी अधिष्ठाताओं के साथ प्रातः 'प्याल' खाने के लिए जाते थे। उससे हम लोग कितना आनन्द अनुभव करते थे, इसकी कल्पना तभी हो सकती है, जब पाठक 'प्याल खाने जाना' इस परिभाषा का पूरा अर्थ समझ जाएँ। पुण्यभूमि (गुरुकुल काँगड़ी की पुरानी भूमि) को जिन लोगों ने देखा है, वे जानते हैं कि गुरुकुल से लगभग छः फर्लांग की दूरी पर शिवालक के पहाड़ों की श्रृंखला है, जो एक ओर मसूरी और दूसरी ओर नैनीताल के ऊँचे पर्वतों को मिलाती है। गुरुकुल के पास से शिवालक

की जो माला गुज़रती है, वह न बहुत हरी है, न बहुत खुश्क। कोई हिस्सा हरियाली से लदा हुआ है तो कोई बिल्कुल नंगा। इन पहाड़ियों के खुश्क हिस्सों में एक फल होता है, जिसे प्याल कहते हैं। वह कश्मीरी गिलास (चैरी) के आकार का जामुनी रंग का खटमिट्ठा फल होता है। प्याल के पेड़ बहुत बड़े नहीं होते। यह फल गर्मियों में लगता है। अनध्याय के दिन खूब तड़के हम लोग पहाड़ की ओर रवाना हो जाते थे। उस समय हम लोगों में तेज चलने और फुर्ती से पहाड़ पर चढ़ने की प्रतिस्पर्धा सी हो जाती थी। अनुभव ने हमें बतला दिया था कि पहाड़ के किस भाग में और किस पेड़ पर मीठे और बड़े प्याल लगते हैं। ब्रह्मचारी काँटों और पत्थरों को नंगे पैरों से कुचलते हुए पर्वत की चोटी पर एक-दूसरे से पहले पहुँचने का यत्न करते थे। दो-तीन घण्टे तक सब लोग बाहुबल से प्राप्त किए हुए इस प्याल सहभोज का आनन्द लेते थे और दोपहर होते-होते गुरुकुल वापस आ जाते थे।

वर्षा ऋतु में प्याल समाप्त हो जाते थे और गंगा भर जाती थी, तब अनध्याय के दिन दो में से एक कार्यक्रम रहता था। यदि गंगा का जल अधिक मैला न हुआ तो भोजन से पहिले का समय तैरने में व्यतीत होता था। बड़े ब्रह्मचारी प्रायः गुरुकुल से दो-ढाई मील ऊपर जाकर चण्डी की पहाड़ी के नीचे से गंगा में कूदते थे और पानी ही पानी में गुरुकुल तक आते थे। उन दिनों गुरुकुल में जो ब्रह्मचारी पढ़ते थे, उन में से शायद ही कोई ऐसा हो, जो बहुत अच्छा तैराक न हो। पानी, जंगल और पहाड़ के खतरों को खतरे न समझना उस समय के गुरुकुलीय जीवन का एक स्वभाव-सिद्ध अंग था।

जिस अनध्याय के दिन गंगा का जल बहुत मैला हो, उस दिन कबड्डी या क्रिकेट का खेल हुआ करता था। उस समय की बड़ी विशेषता यह थी कि प्रायः प्रत्येक खेल में पिताजी (प्रधान जी) बच्चों को प्रोत्साहित करने के लिए स्वयं विद्यमान रहते थे। लगभग सात वर्ष तक गुरुकुल काँगड़ी में क्रिकेट युग रहा। जब पिताजी कालेज में शिक्षा पाते थे, तब भारत के कालेजों में अंग्रेज़ों के राष्ट्रीय खेल क्रिकेट को ही सर्वोत्कृष्ट माना जाता था। पिताजी प्रायः हमें इस अंग्रेज़ी कहावत की व्याख्या करके सुनाया करते थे कि वाटरलू की लड़ाई क्रिकेट के क्रीड़ा-क्षेत्र में ही जीती गई थी। लार्ड विलिंगटन ने पूरे जोर से लड़ना और हार कर भी हार न मानना और हार में से जीत निकाल लेना क्रिकेट के खेल में से ही सीखा था। पिताजी छात्रों में यही भावना भरने के लिए क्रिकेट के खेल पर अधिक बल दिया करते थे।

सर्दियों में अनध्याय के दिन रस का प्रोग्राम रहता था। रस से मेरा अभिप्राय ईख के रस से है। आसपास के गाँवों के कई जगह कोल्हू चलते

थे। प्रातःकाल अन्धेरे में ताँगे (बैलगाड़ी) द्वारा बैठने के आसन या दरी, बटलोई में दूध, अदरक, गिलास आदि बर्तन तथा अन्य आवश्यक चीज़ें कोल्हू पर भेज दी जाती थीं। हवन के पश्चात् सब ब्रह्मचारी प्रधान जी और बड़े पण्डित जी के साथ दो-दो की पंक्ति में गुरुकुल से चलते थे। यदि रास्ते में कोई गाँव आ गया तो उसमें से प्रायः मन्त्र बोलते हुए निकलते थे। कोल्हू में गन्नों के साथ-साथ अदरक भी लगाया जाता था। रस में दूध मिलाकर भरपेट पीते थे। पीने में प्रायः होड़ हो जाती थी, इसलिए रस आवश्यकता से अधिक ही पिया जाता था। उसे पचाने के लिए घण्टा-डेढ घण्टा जोरदार कबड्डी होती थी। यहाँ उल्लेख कर देना आवश्यक प्रतीत होता है कि काँगड़ी में साल-भर बाद ही कबड्डी में छूने के लिए उपरने का प्रयोग छूट गया था, क्योंकि उस प्रयोग के आविष्कारक मास्टर सुन्दरसिंह जी पहले ही वर्ष काँगड़ी गुरुकुल छोड़कर चले गए थे।

ऐसी थी हमारी निश्चित अनध्याय की ऋतुचर्या। उस युग में अनिश्चित या आकस्मिक अनध्यायों की संख्या भी पर्याप्त थी। कम से कम निश्चित तो थी ही नहीं। जिस दिन परोसने वालों और खाने वालों की हिम्मत से भण्डारी जी के आटे का दिवाला निकल जाता था, उस दिन खाना पचाने के लिए छुट्टी आवश्यक हो जाती थी। या तो कहीं दूर की यात्रा का प्रोग्राम बन जाता था अथवा दो घण्टे तक डट कर कबड्डी होती थी। गर्मियों में बादल आ गए तो मनोहर दिन की छुट्टी, सर्दियों में वर्षा हो गई तो दुर्दिन की छुटी। सारांश यह कि जब प्रकृति ऋतु के विरुद्ध चोला पहनती थी तो हमारा अनध्याय होता था। संस्कृत का यह न्याय हम लोगों ने याद कर रखा था—**अनध्याय-प्रियाश्छात्राः**। हमें विश्वास था कि न्याय के अनुसार जब विद्यार्थियों को छुट्टी से प्रेम होना चाहिए, अतः हम जितनी छुट्टी माँगे, उचित ही है। यह लिखना मैं भूल गया कि उन दिनों हमारे निश्चित अनध्याय पूर्णिमा, अमावस्या और अष्टमी के दिन होते थे, इतवार के दिन नहीं।

अनध्यायों में शहर की ओर जाना उस समय गुरुकुल के नियन्त्रण के सर्वथा विरुद्ध था। यदि मैं कुछ भूल नहीं करता तो कह सकता हूँ कि काँगड़ी में पहुँचने के पश्चात् कम से कम पाँच वर्ष तक हम ब्रह्मचारियों ने गंगा का पुल पार करके कनखल में पाँव नहीं रखा था। एक बार कुम्भ का मेला आया था। हमारी बहुत उत्सुकता देखकर प्रधान जी हमें चण्डी की पहाड़ियों के नीचे घुमाने के लिए ले गए थे। वहाँ से गंगा की कई धाराओं के पार कुम्भ का जमघट दिखाई देता था।

हमारे उन दिनों के गुरुकुलीय जीवन का चित्र अधूरा रहेगा, यदि मैं अपनी वार्षिक उत्सव के दिनों की दिनचर्या का वर्णन न करूँ। उत्सव से

दो-तीन दिन पूर्व हम लोगों को नई रंगी हुई पीली धोतियाँ बाँट दी जाती थीं। वह हमारा उत्सव के दिनों का निश्चित वेश था। आम तौर पर पढ़ाई के समय भी हम यही वेश पहनते थे। उत्सव के दिनों में तो सारा दिन यही वेश रखना पड़ता था। कोई ब्रह्मचारी अधिष्ठाता के बिना न अपने संरक्षकों से मिल सकता और न उत्सव की ओर जा सकता था। संरक्षक से मिलने के लिए भी आश्रम के पीछे तम्बू लगाए जाते थे। मिलने के समय अधिष्ठाता प्रायः साथ रहता था। दोपहर के समय दर्शकों को (केवल पुरुषों को) आश्रम देखने की आज्ञा मिलती थी। उस समय हमें अत्यन्त सावधान होकर अपने-अपने तख्त पर बैठना पड़ता था। कोई पुस्तक, अष्टाध्यायी या महाभाष्य खोलकर सामने रख लेते थे और खिड़की के रास्ते बाहर की ओर देखने का यत्न करते थे। भक्ति से प्रेरित दर्शक लोग आश्रम के कमरे में आते थे और प्रायः निम्नलिखित रूप से बात किया करते—

'आहिस्ता-आहिस्ता चलो, ब्रह्मचारी जी पढ़ रहे हैं।'

दूसरा कहता, 'नहीं ध्यान में हैं।'

तीसरा आगे बढ़कर यह देखने का यत्न करना था कि कौन सी पुस्तक पढ़ रहे हैं, और कहता, 'महाभाष्य है ?'

ब्रह्मचारी इस प्रकार की बातें सुनते जाते और घड़ियाँ गिन-गिन कर वे दो घण्टे समाप्त करते थे।

एक दिन दोपहर बाद स्त्रियों के लिए गुरुकुल देखने का समय रखा जाता था। उस दिन हमें गुरुकुल से विदा होना पड़ता था। उस युग में सत्यार्थप्रकाश के तृतीय समुल्लास में लिखित नियम की ऐसी ही व्याख्या की जाती थी। हम लोग भोजन से पूर्व ही बड़ी गंगा के किनारे किसी छायादार झाड़ी में जाकर डेरा जमा लेते थे। भण्डार में तैयार होकर भोजन बहँगियों पर वहीं पहुँच जाता था। वहाँ श्लोकों और सूत्रों की अन्त्याक्षरी होती थी, व्याकरण और न्याय के शास्त्रार्थ होते थे और शाम को खेल होते थे। जब हम लोग आश्रम में वापस आते थे, तब तक महिलाएँ गुरुकुल देखकर जा चुकी होती थीं। उत्सव के समय मण्डप में ब्रह्मचारियों को इस अन्दाज़ से बिठाया जाता था कि उनकी पीठ स्त्रियों की ओर रहे।

उस युग में समय-समय पर बाहर से आने वाले महानुभावों में से, जिनकी स्मृति मेरे मन पर अंकित है, प्रमुख थे—लाला रामकृष्ण जी प्रधान प्रतिनिधि सभा पंजाब, पं० शिवशंकर जी काव्यतीर्थ, पं० आर्यमुनि जी दर्शन भाष्यकार, रायसाहब केदारनाथ एम० ए० आदि। इन महानुभावों का अपने-अपने स्थान पर प्रसंग आएगा, अधिक चर्चा वहीं की जाएगी।

यह मैंने उस समय के गुरुकुलीय जीवन का एक सरसरी सा स्मृति

चित्र खींचा है। उस समय के जीवन में सम्भवतः कुछ अप्रिय बातें भी रही होंगी। कभी-कभी अत्यन्त कड़े नियन्त्रण में रहना हम लोगों को अखरता था, परन्तु अभी नवीनता के वृक्ष का फल नहीं खाया था, इसलिए वह अपना अखरना भी कुछ कठोर नहीं था। किसी-किसी दिन कोई ब्रह्मचारी बहुत बुरी तरह पिट जाता था। बड़े पण्डित जी प्रायः खड़ाऊँ से ही दण्ड देते थे। वह बात भी बहुत नहीं अखरती थी, क्योंकि आचार्य जी प्रायः आचार-सम्बन्धी दोष पर ही दण्ड दिया करते थे। उस समय वे ब्रह्मचारी, जिन्हें दण्ड नहीं मिलता था, यह समझते थे कि जिसे दण्ड मिला है, वह इस योग्य ही था। इस प्रकार अप्रिय बातों का मार्जन हो जाता था। जब परिवर्तन-युग आया और अदन के बाग में नवीनता ने प्रवेश किया, तब ऊपर बतलाई हुई प्रायः सभी बातें हमें करकने लगीं। परन्तु आज लगभग 40-45 साल गुज़र जाने पर भी जब मैं उस समय की स्मृति के पन्नों को पलटता हूँ तो मुझे वे जीवन की स्मृति के शेष सब पन्नों से अधिक सुहावने प्रतीत होते हैं। उस समय के गुरुकुलीय जीवन के मूल सिद्धान्तों की पुष्टि में कोई युक्ति न होते हुए भी यह एक सच्चाई है कि उसमें मधुरता अधिक थी। बुद्धिमान् लोग कह सकते हैं कि वह अनुभवहीनता के कारण थी, अथवा यह भी सम्भव है कि जैसे सभी को अपना बचपन प्यारा लगता है, मुझे भी वैसा ही लगता हो। कारण कुछ भी हो, इसमें मुझे ज़रा भी सन्देह नहीं कि वह मेरे बाल-जीवन का सबसे अधिक सन्तोषमय समय था।

बारहवाँ परिच्छेद

गुरुकुल में नवीनता का प्रवेश

मैंने गत दो परिच्छेदों में गुरुकुल के प्रारम्भिक जीवन का विस्तृत विवरण दिया है। समय व्यतीत होने के साथ-साथ वह जीवन भी बदलता गया। जो परिवर्तन हुए, उन्हें हम यदि किसी एक परिभाषा के अन्तर्गत लाना चाहें, तो वह शब्द नवीनता है। बाहर की दुनिया तो इतना ही जानती है कि गुरुकुल के पहले प्रोस्पेक्टस में ही पूर्व और पश्चिम के मिश्रण की कल्पना जनता के सामने रखी गई थी। वह समझेगी कि उसी कल्पना के अनुसार धीरे-धीरे गुरुकुल में प्राचीन और नवीन, पूर्व और पश्चिम आपस में मिलते गए, जिसका अन्तिम फल हम वर्तमान गुरुकुल में देख रहे हैं; परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। संसार के अन्य परिवर्तनों की तरह गुरुकुल का रूप-परिवर्तन भी लम्बे समुद्र-मन्थन का ही परिणाम था। जिन परिवर्तनों पर समुद्र-मन्थन हुआ, वे पढ़ने में बहुत ही छोटे प्रतीत होंगे। सम्भव है, कुछ पाठक उन पर हँसे भी, परन्तु परिवर्तन हो जाने के पश्चात् प्रायः यही अनुभव हुआ करता है कि बात छोटी सी थी, उसका बतंगड़ क्यों बनाया गया? कभी-कभी तो ऐसा अनुभव होने लगता है कि जैसे यदि विवेक से काम न लिया जाऐ तो बहुत सी अन्य बातें बतंगड़ बन जाती हैं, उसी प्रकार यदि ठीक कार्य-कारण भाव पर विचार न किया जाए तो बहुत से बतंगड़ समय गुज़र ज़ाने पर केवल बात मात्र रह जाते हैं।

तो गुरुकुल में नवीनता के प्रवेश की कुछ घटनाओं की कहानी सुनिए—

मैंने पहले एक संस्मरण में बतलाया था कि जब ब्रह्मचारी फूस के छप्परों में रहा करते थे, तब रात के समय सरसों के तेल के चिराग से रोशनी की जाती थी। रात को पढ़ने का रिवाज़ नहीं पड़ा था क्योंकि अधिकतर ग्रन्थ याद करने पड़ते थे। दिन में घोटा लगाया जाता था और रात को पुनरावृत्ति होती थी।

एक वर्ष के अन्दर-अन्दर कच्ची दीवारों के टिन-शैड खड़े हो गए। एक टिन-शैड में 25-30 बालकों के रहने का स्थान था। यह आवश्यक प्रतीत हुआ कि कमरे को रोशन करने के लिए बड़े लैम्प छत में टाँगे जाएँ। ऐसे लैम्प मिट्टी के तेल से जलते हैं। निरीक्षण की सुलभता के लिए यह आवश्यक समझकर कि प्रत्येक बैरक में एक-एक लैम्प लगा दिया जाए, पिताजी ने मुख्याधिष्ठाता की हैसियत से लैम्पों का आर्डर भिजवा दिया।

जब यह समाचार गुरुकुल में फैला तो एक विराट आन्दोलन शुरू हो गया। इस आन्दोलन के मुखिया उस समय के आचार्य पं० गंगादत्त जी थे। पीछे से तो उनके विचारों में काफी परिवर्तन आ गया था, परन्तु उस समय वह पूरे अपरिवर्तनवादी थे। उनके समय के विचारों का थोड़ा सा आभास निम्नलिखित प्रश्नोत्तर से मिल सकता है। मुझे अच्छी प्रकार याद है कि एक दिन सायंकाल जंगल की ओर जाते हुए मैंने उनसे प्रश्न किया था कि 'पञ्चतन्त्र' में लिखा है कि पशु-पक्षी आपस में बातें किया करते थे, क्या यह झूठ नहीं है ?

पण्डित जी ने मुझे जो उत्तर दिया, उसका यह अभिप्राय था कि बात झूठ नहीं है, क्योंकि सतयुग में पशु-पक्षी और सब एक-दूसरे की भाषा समझते थे। इस उत्तर ने मुझे बिल्कुल सन्तुष्ट कर दिया और कई वर्ष तक हम लोग यह मानते रहे कि पञ्चतन्त्र में जो कहानियाँ लिखी है, वे सतयुग की हैं और सत्य हैं।

उस आन्दोलन में कड़वे तेल के पक्ष में और मिट्टी के तेल के विरोध में बहुत-सी युक्तियाँ दी जाती थीं। कहा जाता था कि कड़वे तेल का धुआँ आँखों में सुरमे का काम देता है और मिट्टी के तेल का धुआँ आँखों और फेफड़ों के लिए ज़हर का असर रखता है। हम लोगों की सहानुभूमि प्रारम्भ में अपरिवर्तनवादियों के साथ थी। पं० गंगादत्त जी के मुख्य समर्थक भण्डारी सालिग्राम जी और अन्य कुछ संस्कृताध्यापक भी थे। उधर परिवर्तन-दल का मुखिया उन दिनों पं० भक्तराम जी डिंगा-निवासी को समझा जाता था। आप भी गंगादत्त जी के शिष्यों में से थे, परन्तु कुछ अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे थे। मिट्टी के तेल तथा अन्य ऐसे ही प्रस्ताव उठाने का श्रेय अपरिवर्तनवादी दल की ओर से पं० भक्तराम जी को ही दिया जाता था। जो चर्चाएँ हम लोगों के सामने होती थीं, उनमें मान लिया जाता था कि प्रधान जी (पिताजी) सर्वथा निर्दोष है, लोग उन्हें बहका देते हैं और वह सीधे होने के कारण उनकी बातों में आ जाते हैं। यह आन्दोलन कई महीनों तक जारी रहा। ब्रह्मचारियों में मिट्टी के तेल के प्रति विरोध की भावना बहुत उग्र रूप में पैदा की गई। यह तो अच्छा था कि अभी महात्मा गाँधी ने भारत के सार्वजनिक जीवन में निष्क्रिय प्रतिरोध और कानून-भंग की फसल नहीं बोई थी और ब्रह्मचारियों में प्रधान जी के प्रति बहुत श्रद्धा का भाव बना हुआ था। इसका परिणाम यह हुआ कि जब प्रधान जी की आज्ञा से मिस्तरी मग्घरसिंह कमरों में बड़ी लालटेन लटकाने के लिए आया तो कोई अप्रिय घटना नहीं हुई और चुपके से मिट्टी के तेल के रूप में पाश्चात्य सभ्यता ने पूर्वी सभ्यता के दुर्ग में प्रवेश कर लिया।

दूसरा परिवर्तन चिकित्सा-पद्धति के सम्बन्ध में था। गुरुकुल के पुराने

प्रेमी जानते हैं कि प्रारम्भकाल में गुरुकुल मलेरिया का प्रबल साम्राज्य था। बरसात के पश्चात् पनवाड़, भंग और जंगली बूटियों से सारा प्रदेश भर जाता था, गड्ढों में भरा हुआ पानी भी सड़ने लगता था। फल यह होता था कि वायुमण्डल मलेरिया के मच्छरों से परिपूर्ण हो जाता था। मुझे याद है कि कभी-कभी तो सबके सब ब्रह्मचारी बुखार में पड़ जाते थे। पहले एक-दो साल तक तो मलेरिया का लोकप्रसिद्ध इलाज घरू तरीके पर होता रहा। प्रधान जी कुनीन की गोलियाँ लेकर श्रेणियों में आ जाते थे, आयु के अनुसार मात्रा में ज्वरपीड़ित ब्रह्मचारियों को गोलियाँ खिला कर ऊपर से नींबू की शिकन्जवी पिला देते थे। शायद दो वर्ष तक कुनीन का प्रयोग चलता रहा। अन्दर-अन्दर उसके विरुद्ध प्रचार भी होता रहा। कुनीन खुश्क और गरम है। वह ब्रह्मचर्य के लिए हानिकारक है और वैद्यक सिद्धान्तों के विरुद्ध है। उस के पीने से बुढ़ापे में सुनने की शक्ति जाती रहती है और बुखार भी बार-बार आता है। ये सब दलीलें थीं, जिनके आधार पर कुनीन का विरोध किया जाता था। ब्रह्मचारियों के लिए कुनीन के विरुद्ध सबसे बड़ी यही युक्ति थी कि वह बहुत ही कड़वी है। शेष सब युक्तियों की भी सहायता लेकर ब्रह्मचारियों ने कुनीन के विरुद्ध सर्वसम्मति कर ली। एक तो आचार्य और स्टाफ के कई अन्य कार्यकर्त्ताओं का विरोध और दूसरे ब्रह्मचारियों की अनिच्छा, परिणाम यह हुआ कि कुछ समय पश्चात् गुरुकुल से कुनीन का प्रयोग उठ गया। उन दिनों नजीबाबाद के एक सज्जन, जिनका नाम डाक्टर लक्ष्मीनारायण था, गुरुकुल में रहा करते थे। वह कहलाते थे डाक्टर, परन्तु एलोपैथिक के विरोध में आन्दोलन करने में नम्बर एक थे। कुनीन का निर्वासन हो जाने पर ब्रह्मचारियों का इलाज सम्भवतः आयुर्वेदिक पद्धति से होता था। सम्भवतः शब्द का प्रयोग मैंने इसलिए किया कि हमारे आचार्य जी की एक टोकरी में से ही सब दवाएँ निकला करती थीं। उस समय तो पूछा नहीं कि कैसी दवाएँ हैं, अब अनुमान से समझता हूँ कि आयुर्वेदिक होंगी। दो-एक प्रयोग याद हैं। कब्ज होने पर जमालगोटे की गोली और किसी तरह का बुखार होने पर कुचले की गोली दी जाती थी। हम सब पर समय-समय पर इन दवाओं का प्रयोग किया गया था।

यदि कोई कमीशन बैठता तो क्या परिणाम निकलता, यह मैं नहीं कह सकता। इतना याद है कि आठ महीने में व्यायाम और साधु भोजन से जो स्वास्थ्य बनता था, वह चौमासे में समाप्त हो जाता था। एक बार मेरे बड़े भाई हरिश्चन्द्र जी को चौमासे में ज्वर आना शुरू हुआ। बचपन से ही उनका शरीर बहुत भारी और शानदार था, वैसा ही भराव भी था। कभी-कभी हम दोनों भाई कुश्ती किया करते थे। मेरी यही चेष्टा रहती थी कि नीचे न आऊँ।

नीचे आने पर बोझ के मारे हार माननी पड़ती थी। एक साँस में वे दो-दो सौ दण्ड कर लेते थे। भाग्यवश उन्हें भी बारी का बुखार आने लगा। बुखार में कम्बल उढ़ा कर लिटा दिए जाते थे, बुखार उतर आने पर व्यायाम तथा ओजस्वी भोजन द्वारा शक्ति देने का उपक्रम होता और बारी के दिन उस दवा की पिटारी में से दो-एक गोलियाँ उन्हें दी जाती थीं। उनका बुखार लगभग चार मास तक चला, जिसने उन्हें बीमारों और कृशों की पंक्ति में लाकर खड़ा कर दिया। इसी बीच में एक विशेष घटना हो गई। डाक्टर सुखदेव जी गुरुकुल आ गए। आगे चलने से पूर्व कुछ शब्द उनके सम्बन्ध में कहने आवश्यक है, अन्यथा इतिवृत्त का सिलसिला पूरी तरह समझ में नहीं आएगा।

मैं पहले बतला आया हूँ कि मेरी दो बहिनें थी, जो हम दोनों भाइयों से बड़ी थीं। सबसे बड़ी बहिन वेदकुमारी जी की शादी का वृत्तान्त मैं सुना चुका हूँ। दूसरी बहिन का पहला नाम हेमकुमारी था, उस नाम को शायद कम धार्मिक समझ कर पिताजी ने विवाह से पूर्व बदल दिया और बहिन का नाम अमृतकला रख दिया। अमृलकला जी की शादी डा० सुखदेव जी से उन दिनों हुई थी, जब हम दोनों भाई गुजरानवाला गुरुकुल में पढ़ते थे। पिताजी के अन्य सब कार्यों की तरह अमृतकला जी का विवाह भी पंजाबी मुहावरे के अनुसार बड़े धूम-धमाके का कार्य था। सुखदेव जी मेडिकल कालेज में एस० ए० एस० की परीक्षा के लिए तैयार हो रहे थे। उनकी आर्थिक स्थिति बहुत साधारण थी। कड़े आलोचकों की दृष्टि में यह भी दोष की बात मानी गई है कि वे जाति के अरोड़े थे, जो खत्रियों से नीचे समझे जाते हैं।

उधर पिताजी के मन पर पहली शादी के कारण बहुत गहरी प्रतिक्रिया हो गई थी। वह इस बात पर तुल गए थे कि लड़की का वर तलाश करने में न धन को देखूँगा और न रूप को, न जाति क़ी परवाह करूँगा और न डिग्रियों की, केवल चरित्र को देखूँगा। इस कसौटी पर कसकर पिताजी ने सुखदेव जी को सोलह आने खरा पाया और अमृतकला जी से सगाई करने के लिए जालन्धर बुला लिया। इस समाचार के फैलने पर भारी कुहराम मच गया। हमारा ननसाल इस सम्बन्ध का कट्टर विरोधी था। नाना जी और भावो जी (हमारी नानी) की ओर से सन्देश पर सन्देश आने लगे कि जाति से बाहर विवाह मत करो। उधर आर्यसमाज के क्षेत्र में भी एक अजीब तूफान सा खड़ा हो गया। जो आर्यसमाजी नेता पिताजी की तेज प्रकृति से घबराते थे, उन्होंने अमृतकला के विवाह के प्रश्न को एक सार्वजनिक रूप देकर लाहौर के आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर एक कान्फ्रेन्स रख दी। उस कान्फ्रेन्स में कहने को तो अन्तर्जातीय विवाह के प्रश्न पर विचार रखा गया था, परन्तु वस्तुतः उसका उद्देश्य पिताजी के संकल्प को तोड़ना ही था। एक सदाशय

पुरुष ने कान्फ्रेन्स में यहाँ तक क़ह दिया कि लाला मुन्शीराम जी अपनी महत्त्वाकांक्षा पर लड़की को कुर्बान कर रहे हैं। सम्बन्धियों का विरोध और समाज के डरपोक नेताओं की कड़ी आलोचनाओं से विचलित न होकर पिताजी ने अपने संकल्प पर डटे रहे और वह अपने ढंग का पहला अन्तर्जातीय विवाह हमारे परिवार में सम्पन्न हो गया। उस विवाह के पश्चात् पिताजी ने जालन्धर की कोठी से विदाई ले ली और गंगा के तट पर गुरुकुल की योजना में लग गए।

बहिन अमृतकला विवाह के पश्चात् दो वर्ष के लगभग जीवित रहीं। उनका शरीर पहले से निर्बल था, प्रसव के कष्ट को न सह सका और वह केवल दो वर्ष के गृहस्थ के पश्चात् सुखदेव जी को अकेला छोड़ कर परलोक चली गईं। डाक्टर सुखदेव जी ने इस चोट को मनुष्यों की तरह बर्दाश्त किया। घर का सब सामान बेचकर गुरुकुल को छात्रवृत्ति के लिए दान दे दिया और स्वयं सेवा का व्रत धारण करके गुरुकुल में आ गए।

इस प्रकार डाक्टर सुखदेव जी गुरुकुल में आए।

तेरहवाँ परिच्छेद

नवीनता की बाढ़

इस समय तक मैंने गुरुकुल में छोटे-मोटे परिवर्तनों का जो इतिहास सुनाया है, उससे पाठकों ने यही समझा होगा कि गुरुकुल में प्राचीनता के वातावरण में अर्वाचीनता बूंदें बनकर टपकी थी। अब मैं यात्रा के जिस पड़ाव पर आ गया हूँ, उसमें पाठक अर्वाचीनता को बरसात में नदी की बाढ़ की तरह गुरुकुल में प्रवेश करता हुआ पायेंगे। 1902 में गंगा के तट पर गुरुकुल का उद्घाटन हुआ था। अब तक जो कहानी सुनाई गई, वह प्रारम्भिक वर्षों की है। 1906 में गुरुकुल का दूसरा दौर शुरू हुआ। हम दोनों भाई सबसे ऊपर की श्रेणी में थे, इस कारण प्रत्येक परिवर्तन का सबसे अधिक असर हम दोनों पर ही होता था।

इस युग का विचार आते ही तीन नाम याद आते हैं।

सबसे पहला नाम डा० चिरंजीव भारद्वाज का है। आर्यसमाज की वर्तमान सन्तति डाक्टर भारद्वाज के नाम से अधिक परिचित नहीं है। इसका मुख्य कारण यही है कि डाक्टर जी को इच्छानुसार समाज-सेवा करने का अधिक अवसर नहीं मिला। दुर्दैव ने उनके जीवन को अकाल में ही समाप्त कर दिया। डाक्टर भारद्वाज विलायत से डाक्टरी की बहुत ऊँची परीक्षा पास करके आए थे। वे ऋषि दयानन्द के परम श्रद्धालु थे। श्रद्धा और आवेश ये दो उनकी विशेषताएँ थीं। विलायत जाने से पहले ही ऐसे नौजवान आर्यसमाजियों का एक गिरोह उनके चारों ओर इकट्ठा हो गया, जो सुधार की भावना को क्रियात्मक रूप से अपने जीवन का अंग बना देना चाहते थे। विलायत से वापस आने पर पिताजी के त्यागमय जीवन से प्रभावित होकर डा० भारद्वाज गुरुकुल की ओर आकृष्ट हुए और बड़ौदा रियासत की ऊँची नौकरी छोड़कर गुरुकुल आ गए। आर्य समाचार-पत्रों ने यह समाचार इस रूप में छापा कि 'डाक्टर भारद्वाज ने गुरुकुल को जीवन दान दे दिया।'

दूसरे महानुभाव, जिनका इस युग से विशेष सम्बन्ध है, वे प्रोफेसर रामदेव जी थे, जो उस समय मास्टर रामदेव जी कहलाते थे। प्रो० रामदेव जी आर्यसमाज की कालेज पार्टी के नेता महात्मा हंसराज जी के भाई लगते थे। जब दोनों पार्टियों का संघर्ष बहुत ज़ोरों से चल रहा था, तब प्रो० रामदेव जी का झुकाव महात्मा पार्टी की ओर हो गया। वे प्रकृति से अतिशयता-प्रेमी थे। उनका कोई कार्य छोटे आकार में या धीमी प्रगति से नहीं हो सकता

था। वे उन खिलाड़ियों में से थे, जो या तो ज़ीरो लेते है अथवा बाउण्डरी लगाते हैं (यहाँ भ्रम-निवारण के लिए लिख देना आवश्यक है कि ऊपर दिया गया दृष्टान्त, दृष्टान्त ही है, यों प्रो० रामदेव जी ने जीवन-भर में क्रिकेट या अन्य कोई शारीरिक खेल नहीं खेले। गंगा के तट पर लगभग आधा जीवन बिता कर भी वे पानी में कभी नहीं तैरे)। डाक्टर चिरंजीव भारद्वाज के वे पट्टशिष्य थे। पिताजी से उन्हें तभी से प्रेम था, जब पंजाब की पार्टियों के झगड़े में प्रो० रामदेव जी बी० ए० पास करके जालन्धर छावनी के हाई स्कूल में हेडमास्टर बन कर आए थे। वहाँ का कार्य छोड़ कर वे भी डाक्टर भारद्वाज के साथ ही गुरुकुल आ गए थे। इसे आर्यसमाज के समाचार-पत्रों में दूसरा जीवन-दान कहा गया।

तीसरे मास्टर गोवर्धन जी बी० ए० थे। मास्टर गोवर्धन जी का यदि संक्षेप में वर्णन करना हो तो हम कह सकते हैं कि वे 'शरीरधारी नियम' थे। नियम की तरह कठोर और नियम की तरह भावुकताहीन थे। गुरुकुल की पाठशाला को स्कूल के रूप में लाना उन्हीं का काम था। यद्यपि मास्टर गोवर्धन जी जीवन-दान देकर गुरुकुल में नहीं आए थे, तो भी उनके जीवन का बहुत हिस्सा गुरुकुल में व्यतीत हुआ।

अब तक हम लोग अपने रहने के कमरों में ही पढ़ा करते थे, बहुत हुआ तो यज्ञशाला में पढ़ने के लिए बैठ गए। पढ़ाई के घण्टे नहीं बजते थे। जब सुबह का प्रातःराश हो जाता तो पढ़ाई आरम्भ हो जाती और जब खाने की घण्टी बज जाती तो पढ़ाई समाप्त हो जाती थी। इस प्रकार भण्डारी सालिग्राम जी की घण्टी ही हमारी पढ़ाई का नियन्त्रण करती थी। मास्टर रामदेव जी के आने पर पहला परिवर्तन यह हुआ कि पढ़ाई की घण्टी बजने लगी। इस अर्वाचीन रीति का काफी विरोध हुआ। ब्रह्मचारियों को यह बन्धन प्रतीत होता ही था, अध्यापक भी इससे प्रसन्न नहीं थे। भण्डारी जी ने घोषणा कर दी थी कि यह रीति व्यवहार-योग्य नहीं है। एक दिन प्रातःकाल पढ़ाई की घण्टी बजने के पश्चात् दूध की घण्टी बजी, क्योंकि दूध इससे पूर्व गर्म नहीं हो सका। दूसरे दिन भोजन की घण्टी पढ़ाई के बीच ही में बज गई। भोजन तैयार हो गया था।

अस्तु, यह व्यवस्था धीरे-धीरे ठीक हो रही थी कि एक नया प्रश्न खड़ा हो गया। डाक्टर चिरंजीव जी ने एतराज उठाया कि बच्चों पढ़ने के लिए डैस्क क्यों नहीं दिये जाते ? उनका कहना था कि पुस्तक ठीक दूरी पर न रहने से आँखें खराब हो जाती हैं। इस प्रस्ताव का विरोध हुआ। विरोधियों की यह युक्ति थी कि डैस्क आ जाने से तो वह बिल्कुल स्कूल बन जाएगा। ऐसे सभी परिवर्तनों के पीछे प्रधान जी की स्वीकृति रहती थी, इस कारण

अन्त में वे हो ही जाते थे।

यह तो परिवर्तनों का आरम्भ था। एक बार गेंद लुढ़का तो लुढ़कता ही चला गया। पढ़ाई के कमरे अलग हो गए, घण्टे बजने लगे। पहले छोटे डैक्स और फिर कुर्सी वाले बड़े डैक्स आ गए। पढ़ाई के विषयों में भी क्रान्ति पैदा होने लगी। प्रो० रामदेव जी की अध्यक्षता में अंग्रेज़ी, इतिहास और अर्थशास्त्र की पढ़ाई जोर-शोर से होने लगी। मास्टर गोवर्धन जी साइन्स पढ़ाते थे। संस्कृत के विषयों का अध्यापन गुरु काशीनाथ जी के अतिरिक्त पं० भीमसेन जी शर्मा, पं० नरदेव जी शास्त्री, पं० पद्मसिंह शर्मा तथा पं० विष्णुमित्र जी आदि करते थे। जब स्कूल बना तो एक हेडमास्टर भी चाहिए था। मास्टर रामदेव जी गुरुकुल के प्रथम हेडमास्टर (मुख्याध्यापक) नियत हुए। जब ग्यारहवीं श्रेणी खुल गई और हम लोग महाविद्यालय में चले गए, तो मास्टर रामदेव जी प्रिन्सिपल हो गए और मुख्याध्यापक का कार्य मास्टर गोवर्धन जी के सुपुर्द हुआ। गुरुकुल के सभी पुराने स्नातक जानते हैं कि गुरुकुल विश्वविद्यालय को नियम और नियन्त्रण में लाने का श्रेय अधिकतर मास्टर गोवर्धन जी को ही था।

अगले परिच्छेद में मैं बतलाऊँगा कि देहरादून-यात्रा के पश्चात् ब्रह्मचारियों के हृदयों मे अर्वाचीन विद्याओं को सीखने की रुचि बढ़ गई थी। डा० चिरंजीव भारद्वाज और प्रो० रामदेव जी के व्यक्तित्व भी ज़ोरदार थे। सबसे बढ़कर बात यह थी कि पिताजी उपदेशों तथा व्याख्यानों द्वारा बालकों को आवश्यक परिवर्तनों के लिए तैयार करते रहते थे। इन सब कारणों से हम लोगों का सामान्य झुकाव परिवर्तनों के पक्ष में हो गया था।

आचार्य गंगादत्त जी दिल से इन परिवर्तनों के विरोधी थे। यह तो नहीं कहा जा सकता कि वे सर्वथा अपरिवर्तनवादी या सनातनपंथी थे। सामान्य रूप से वे किसी सनातन रूढ़ि में आस्था नहीं रखते थे। विचारों में आर्यसमाजी थे, परन्तु उनकी तबीयत में लचीलेपन का सर्वथा अभाव था। एक बार आर्यसमाजी बन गए तो बने रहे। नई परिस्थिति के अनुसार बदलना या किसी नई बात को लेकर नया अंग बना लेना उनके लिए सम्भव नहीं था। डाक्टर चिरंजीव भारद्वाज और प्रो० रामदेव जी से सम्भवतः प्रथम दर्शनों से ही उनकी प्रतिकूलता हो गई थी, जो समय के साथ बढ़ती ही गई। डा० चिरंजीव भारद्वाज तो कुछ समय पश्चात् रूठ कर गुरुकुल से चले गए और प्रो० रामदेव जी लगभग तीस वर्ष तक गुरुकुल के साथ सम्बद्धरहे। आचार्य गंगादत्त जी का और उनका संघर्ष लगभग तीन वर्षों तक चला। आचार्य गंगादत्त जी निरन्तर यह अनुभव करते रहे कि वह संघर्ष में परास्त हो रहे हैं। उन्हें एक-एक करके कई कदम पीछे हट जाना पड़ा, जिससे अन्त में उन्होंने और उनके

कुछ शिष्यों ने गुरुकुल काँगड़ी छोड़ कर गंगा के दूसरे पार ज्वालापुर महाविद्यालय में जाने का निश्चय कर लिया।

1906 से 1910 के मध्य में गुरुकुल के रूप में लगभग क्रान्ति हो गई। गुरुकुल विद्यालय तथा महाविद्यालय इन दो भागों में विभक्त हो गया। विद्यालय की पाठविधि 10 वर्षों में बाँटी गई और महाविद्यालय की 4 वर्षों में। इस समय सोचने पर अनुभव होता है कि यूनिवर्सिटियों की कड़ी आलोचना करते हुए भी उस समय हमने सोलहों आने यूनिवर्सिटियों के बाह्य रूप को अपना लिया। शायद उस समय कोई दूसरा मार्ग भी नहीं था। पाठशाला की पुरानी पद्धति बदली, क्योंकि पुरानी शैली बदलती हुई नई परिस्थितियों के अनुरूप नहीं थी। उसे जारी रखने का अभिप्राय यह होता कि गुरुकुल तात का कूप ही बना रहता और ब्रह्मचारी कूप-मण्डूक होते। दूसरी कोई पद्धति आविर्भूत नहीं हुई थी। जो महानुभाव गुरुकुल को विश्वविद्यालय का रूप देना चाहते थे, उनमें से किसी को यह अवसर नहीं मिला कि वे पाठशाला और स्कूल का मध्य का कोई मार्ग निकाल सकते। परिणाम यह हुआ कि अंग्रेज़ी मुहावरे के अनुसार नई बोतलों में पुरानी दवा भरने का यत्न प्रारम्भ हो गया।

यह संस्मरणों का संग्रह है, इसमें सम्मतियाँ देना अप्रासंगिक ही है, तो भी पथभ्रष्ट होकर सम्मति दे डाली है, इसके लिए पाठक क्षमा करें। मैं संस्मरण के इस भाग को समाप्त करते हुए इतना बतला देना आवश्यक समझता हूँ कि परिवर्तन-युग की समाप्ति पर हम गुरुकुल भूमि में फूस के घरों के स्थान पर महाविद्यालय की पक्की इमारतें खड़ी पाते हैं। कलेवर बदल चुका था, बहुत कुछ मन भी बदल चुका था, केवल आत्मा के प्रतिनिधि मुख्याधिष्ठाता महात्मा मुन्शीराम जी गुरुकुल की निरन्तरता को कायम रख रहे थे।

चौदहवाँ परिच्छेद

एक मनोवैज्ञानिक परीक्षण

मनुष्य के जीवन में ऐसे समय प्राय: आते रहते हैं, जब वह अपने को एक चौराहे पर खड़ा पाता है। उस समय उसके लिए ठीक मार्ग का निर्णय करना कठिन हो जाता है। यदि ठीक समय और ठीक स्थान पर कोई अच्छा मार्गदर्शक मिल गया तो मनुष्य उलझन से निकल कर ठीक रास्ते पर पड़ जाता है, अन्यथा या तो उलटे रास्ते पर चल पड़ता है अथवा दुविधा में फँस कर जीवन के अमूल्य अवसर को खो देता है। ठीक स्थान और ठीक समय पर सच्चा मार्गदर्शक मिल जाए, यह अच्छे भाग्यों से होता है। इसी से बड़े से बड़े पुरुषार्थवादी भी अन्त में प्रारब्धवादी होते देखे गए हैं।

अब मैं अपने जीवन की जिस घटना का इतिहास सुनाने लगा हूँ, वह ऐसी ही थी। हम दोनों भाई घटनाचक्र के वशीभूत होकर उन्नीस सौ छ: ईस्वी के मध्य में जीवन के चौराहे पर पहुँच गए थे। वह मानसिक उलझन क्या थी और उससे हमारा कैसे उद्धार हुआ, यह पाठकों को निम्नलिखित घटना से ज्ञात होगा।

मैं इससे पूर्व गुरुकुल की प्रारम्भिक दिनचर्या के प्रसंग में बतला आया हूँ कि उन दिनों हम लोग संस्कृत ही पढ़ा करते थे। व्याकरण, साहित्य, दर्शन—सभी विषयों में हमारी योग्यता अच्छी मानी जाने लगी थी। मुझे स्मरण है कि एक बार आर्यसमाज के प्रसिद्ध विद्वान् पं० आर्यमुनि जी गुरुकुल देखने के लिए आए। हम लोग उस समय गंगा पर नहाने की तैयारी कर रहे थे। पं० आर्यमुनि जी प्रधान जी के साथ हम लोगों के पास आए और संस्कृत में बातचीत करने लगे। यदि भूलता नहीं तो पं० आर्यमुनि जी ने गंगा की ओर देखकर निम्नलिखित वाक्य कहा था—"शुद्धं अम्बु गच्छति", इस वाक्य का सुनना था कि हम लोग बेमतलब उनसे उलझ पड़े। व्याकरण का झगड़ा छेड़कर हमने उन्हें बहुत तंग किया। पण्डित जी दार्शनिक थे, व्याकरण उन्हें उपस्थित नहीं था। हमारे बचपन पर वह हँसते रहे और अन्त में साधु-साधु कहते हुए प्रधान जी के पास चले गए। यह हमारी उस समय की मनोवृत्ति का एक अच्छा नमूना था कि हमने अपने-आप को विजयी समझा और बहुत प्रसन्न हुए।

इसी बीच में काशी के प्रसिद्ध गुरुवर पं० काशीनाथ जी गुरुकुल में अध्यापक के तौर पर आ गए। गुरुवर पं० काशीनाथ जी पुराने ढंग के पाण्डित्य

का एक बढ़िया नमूना थे। उनका वेश यह था—धोती और बण्डी के अतिरिक्त चादर ओढ़ते थे। सर्दियों में चादर के स्थान पर लिहाफ ओढ़ लेते थे। अधिक गर्मियाँ होने पर बण्डी उतार देते थे। उनके स्टाक में कोई चौथा कपड़ा नहीं रहता था। धोबी के यहाँ कोई कपड़ा धुलने नहीं देते थे। नहाकर गीली धोती निचोड़ देते थे; बस, वस्त्र-शुद्धि का उनका इतना ही कार्यक्रम था। इस कारण गुरु जी के कपड़े सदा मैले ही दिखाई दिया करते थे।

पुराने पण्डितों को पान, तम्बाकू, सुँघनी आदि में से किसी चीज़ की एक आदत हुआ करती थी। गुरु जी को सुँघनी की आदत थी। वैसे तो जागरित अवस्था में भी थोड़ी-थोड़ी देर में सूँघते रहना उनके लिए आवश्यक था, परन्तु विशेष रूप से जब वह पढ़ाने के लिए बैठते थे, तब बहुत सी सुँघनी चुटकी में लेकर नाक के मार्ग से मस्तक तक चढ़ाना अनिवार्य सा हो जाता था। हम लोगों ने पुस्तक खोली और गुरु जी ने सुँघनी चुटकी में ली। यह जानकर आजकल के गुरुओं और विद्यार्थियों को आश्चर्य होगा कि गुरु जी को पढ़ाते समय कोई पुस्तक खोलने की आवश्यकता नहीं होती थी। व्याकरण, नवीन तथा प्राचीन दर्शन, अलंकार-शास्त्र, ज्योतिष, निरुक्त आदि किसी भी विषय के कठिन से कठिन ग्रन्थ को वह बिना पुस्तक देखे ही पढ़ा सकते थे। हम लोग पाठ पढ़ते जाते और वह अपनी पुरबिया भाषा में समझाते जाते। शास्त्र की कोई ऐसी गाँठ नहीं थी, जिसे उनकी प्रतिभा खोल नहीं सकती थी। शास्त्रों का कोई ऐसा भँवर नहीं था, जिसे उनकी विद्वत्ता पार नहीं कर सकती थी। कोई ग्रन्थ खोलिए, गुरु जी को वह उपस्थित मिलता था। उन धूमिल वस्त्रों में उस अगाध विद्वत्ता को देखकर सचमुच आश्चर्य होता था।

इसी प्रसंग में एक मनोरंजक घटना याद आ गई है, उसे भी लिखे देता हूँ। एक साल चौमासे में गंगा का जल बहुत बढ़ गया। गुरुकुल के पुराने यात्रियों को मालूम है कि बरसात में हरिद्वार से गुरुकुल तक की यात्रा कनस्तरों के बँधे हुए तमेड़ों पर हुआ करती थी। वह किश्ती कितनी मनोरंजक और कितनी भयानक थी, यह वे समझ सकते हैं, जिन्होंने चौमासे में उमड़ती हुई गंगा की धारा को तमेड़ से पार किया हो। एक क्षण में यात्री अपने को गंगा की चोटी पर और दूसरे क्षण में गंगा के पाताल में पाता था। साल में दो-चार दिन ऐसे भी आते थे, जब तमेड़ चलाने वाले गंगा का सामना करने से इन्कार कर देते थे। उस साल ऐसे ही चार दिन आ गए, जिनमें गुरुकुल का हरिद्वार से पूरी तरह सम्बन्ध-विच्छेद हो गया। इधर गुरु जी की डिबिब्या में सुँघनी समाप्त हो गई। प्रातःकाल के समय जब हम लोग गुरु जी के सामने पढ़ने के लिए बैठे तो बहुत ही करुणाजनक दृश्य था। वे कभी विद्यार्थियों की तरफ देखते थे और कभी गंगा के उस घाट की ओर, जहाँ परले पार से

आकर तमेड़ लगती थी। सुघँनी के बिना विद्वत्ता के उस अथाह सागर के मस्तिष्क और वाणी सर्वथा मौन थे। तीन दिन इसी तरह से बीत गए। कोई पाठ न हुआ। चौथे दिन गुरु और शिष्य उसी प्रकार बैठकर समय व्यतीत कर रहे थे कि इतने में गंगा में तमेड़ दिखाई दी। गुरु जी ने इशारा करके एक ब्रह्मचारी को भगाया, जिसने तमेड़ के किनारे पर लगते ही हरिद्वार से आए हुए सामान में से सुँघनी की पुड़िया निकाल ली और गुरु जी के हाथ में दे दी। उस समय गुरु जी के चेहरे की प्रसन्नता देखने योग्य थी, मानो समुद्र-मेखला पृथिवी का साम्राज्य मिल गया हो। गुरु जी ने कई चुटकियाँ इकट्ठी नाक में चढ़ा लीं, जिससे एक बार तो आँख और नाक से खूब पानी बह निकला, परन्तु चार-पाँच मिनट में प्रतिभा के सब कपाट खुल गए और शास्त्र की अनवरत प्रवाह बह निकला।

गुरु जी की एक बात और सुना कर आगे चलता हूँ। लम्बी छुट्टियों में गुरु जी बलिया जाने के लिए तैयार हुए। यात्रा के लिए एक खुरजी तैयार की गई, जिसमें एक ओर कुछ कपड़े और दूसरी ओर सत्तू, चने आदि बँधे हुए थे। सफर में गुरु जी न जल पीते थे, न खाना खाते थे। गुरुकुल में भी केवल अपने हाथ का बना खाना ही खाते थे। खुरजी को कन्धे पर डालकर गुरु जी जब तीसरे दर्जे के डिब्बे में प्रविष्ट हुए और सीट के नीचे की जगह में बैठने लगे तो हम लोगों ने, जो उन्हें स्टेशन पर छोड़ने गए थे, सीट पर जगह खाली करा कर गुरु जी से निवेदन किया—"महाराज, आप नीचे क्यों बैठते हैं, सीट पर बैठिए, जगह तो है।" गुरु जी ने बहुत भोले ढंग से उत्तर दिया—"अरे यहीं ठीक है, वहाँ कोई उठाय दई है।" उस समय तो हम लोगों ने यह विश्वास दिला कर कि "आपको रास्ते में कोई नहीं उठाएगा" गुरु जी को सीट पर बिठा दिया था, आगे कैसी बीती, यह मालूम नहीं।

ऐसे प्रकाण्ड विद्वान् के उस सादा जीवन का हम लोगों पर बहुत गहरा असर हुआ। मस्तक पर मध्यकालीन संस्कृत का अधिकार बढ़ने लगा। शेखर और मुक्तावली ने काशिका और प्रशस्तपाद को मैदान से भगा दिया। यह हमारी ओछी बुद्धि और अल्प विद्या का ही परिणाम था। गुरु जी के आने के दो-तीन वर्ष बाद हम लोगों में यह भाव पैदा हो गया कि आर्यसमाज के पास और कुछ भी हो, पाण्डित्य का सर्वथा अभाव है। हम लोग ज्ञानलव-दुर्विदग्धता के अच्छे-खासे नमूने बन गए।

एक दिन रात्रि के भोजन के पश्चात् हम दोनों भाइयों ने प्रधान जी (पिताजी) से प्रार्थना की कि हम अकेले में उनसे कुछ बातें करना चाहते हैं। गुरुकुलीय जीवन में शायद यह पहला अवसर था, जब हमने पिताजी से अलग बातचीत करने का अवसर माँगा हो, अन्यथा वे हम दोनों को सदा

अन्य ब्रह्मचारियों के समान भाव से ही देखते रहे। हमारी प्रार्थना से पिताजी को आश्चर्य हुआ, तो भी उन्होंने हमारी प्रार्थना स्वीकार कर ली, और हम दोनों को साथ लेकर उसी समय गुरुकुल-वाटिका में चले गए। वहाँ टहलते-टहलते भाई जी ने पिताजी से अपने मन का भाव कहा—भाव यह था कि हम दोनों गुरुकुल की शिक्षा से सन्तुष्ट नहीं है। इस शिक्षा से हम पण्डित नहीं बन सकेंगे। पण्डित बनने के लिए काशी में शिक्षा पाना आवश्यक है। हमें पं० शिवकुमार शास्त्री, पं० जयदेव मिश्र और श्री भागवताचार्य जैसे पण्डितों से शिक्षा पाने का अवसर मिलेगा। आप हमें गुरुकुल से उठाकर बनारस भेज दीजिए।

हमारे इस प्रस्ताव से पिताजी को जो मानसिक धक्का पहुँचा होगा, उसका अनुमान लगाकर अब भी मेरा दिल काँप उठता है। जिस व्यक्ति ने गुरुकुल-शिक्षा की स्थापना के लिए सर्वस्व लगा दिया हो, उसके लड़के ही जब निष्फलता और निराशा का सन्देश लेकर आएँ तो उस व्यक्ति के हृदय पर आघात होना स्वाभाविक ही था। पिताजी हमारा प्रस्ताव सुनकर चुप हो गए। बहुत देर तक तीनों मौन-मुद्रा में घूमते रहे। यह अनुभव करके कि हमारे शब्दों ने पिताजी को बहुत दुःखी किया है, हम दोनों स्तब्ध से हो गए। पिताजी के मन में क्या विचार उठते रहे होंगे, इसका अनुमान ही लगाया जा सकता है।

कुछ देर तक चुपचाप टहलने के पश्चात् पिताजी ने बड़े शान्तभाव से कहा—"मैं तुम्हारी बातों का उत्तर कल दूँगा।"

दूसरे रोज़ हम बड़ी उत्सुकता से उत्तर की प्रतीक्षा करने लगे। तरह-तरह के विकल्प मन में उठ रहे थे। कभी सोचते कि पिताजी बनारस भेज देंगे, न भेजना होता तो उसी समय इन्कार कर देते। फिर विचार उठता कि भेजना होता तो उसी समय मान भी तो सकते थे। अवश्य इन्कार करेंगे। इसी तरह संकल्प-विकल्प करते सायंकाल का समय आ गया। सायंकाल पढ़ाई से छुट्टी होने पर कमरे से बाहर निकले, तो प्रधान जी का चपरासी हाथ में एक कागज़ लेकर आता हुआ दिखाई दिया। उस कागज़ में इस आशय की आज्ञा लिखी हुई थी कि भोजन से निवृत्त होकर दो बड़ी श्रेणियों के सब ब्रह्मचारी मुख्याधिष्ठाता जी के निवास-स्थान पर एकत्र हों। इस आज्ञा से हम दोनों भाइयों की द्विविधा और भी बढ़ गई। क्या हमारे प्रस्ताव का उत्तर सब के सामने दिया जाएगा?

भोजन के उपरान्त ऊपर की दो श्रेणियों के ब्रह्मचारी प्रधान जी के स्थान पर इकट्ठे हुए। मैं शायद इन संस्मरणों में यह बतलाना भूल गया हूँ कि हम दोनों भाई एक ही श्रेणी में थे, और वह श्रेणी गुरुकुल में सबसे बड़ी थी। हमारे साथ एक और साथी भी शिक्षा पाते थे, जिन का नाम जयचन्द था। वह स्नातक बनने से पूर्व ही गुरुकुल छोड़ कर चले गए थे। अस्तु, हम सब

प्रधान जी के स्थान पर एकत्रित हुए। प्रधान जी ने बड़े प्रसन्न भाव से ब्रह्मचारियों को यह समाचार सुनाया कि दोनों बड़ी श्रेणियों को देहरादून-यात्रा कराने का निश्चय किया गया है। इतना समाचार मात्र हम पिंजरे के पंछियों को फड़का देने के लिए पर्याप्त था। हमने अभी हरिद्वार भी अच्छी तरह न देखा था। देहरादून की यात्रा होगी, यह जानकर हम लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। प्रधान जी ने अत्यन्त आकर्षक शब्दों में यात्रा का कार्यक्रम हमारे सामने रखा। सायंकाल के समय चलेंगे। रात को मायापुर वाटिका में ठहरेंगे। सुबह स्टेशन पर पहुँचकर तुम लोगों को यह समझाऊँगा कि इंजन से रेल कैसे चलती है। देहरादून पहुंचकर जंगलात का कालेज, ओब्ज़र-वेटरी आदि संस्थाएँ देखने को मिलेंगी। फिर सहस्रधारा चलेंगे, इत्यादि इतनी नई चीज़ें इकट्ठी देखने की आशा उत्पन्न करने के अनन्तर प्रधान जी ने हमारे ज़िम्मे कई काम लगा दिए। कल कागज़ मँगवा दिए जाएँगे, तुम लोग यात्रा के नोट लेने के लिए स्वयं जिल्द वाली डायरियाँ तैयार कर लो। सब मैले कपड़ों को धो डालो। चार दिन के लिए खैर की दातुनें इकट्ठी कर लो। यात्रा के लिए भण्डारी, सहायक भण्डारी उसी समय नियत कर दिए गए। इस प्रकार यात्रा और यात्रा की तैयारी का पूरा कार्यक्रम हमारे दिल और दिमाग़ में भरकर प्रधान जी ने हमें सोने के लिए आश्रम में भेज दिया।

मेरे अध्ययन और निजी अनुभवों में जितने मनोवैज्ञानिक परीक्षण आए हैं, उनमें शायद ही कोई परीक्षा इतना सफल हुआ हो, जितना पिताजी का यह परीक्षण। मैं इसे उनकी नेतृत्व-शक्ति का सबसे बड़ा प्रबल प्रमाण मानता हूँ। मनुष्यों का नेता वही हो सकता है, जो उनके मनों को अपनी इच्छानुसार साँचे में ढाल सके और ढाल भी सके ऐसे ढंग पर कि अनुयायियों को यह मालूम न हो कि उन्हें कुछ का कुछ बना दिया गया है। देहरादून की यात्रा के प्रस्ताव ने हम दोनों के मन में से बनारस जाने की इच्छा के खण्डहरों तक को निकाल कर बाहर फेंक दिया। रात को जब हम सोने के लिए आश्रम में पहुँचे तो हमारे हृदयों में से निराशा विदा हो चुकी थी और उत्साह भरा हुआ था। हमारे कल रात के प्रस्ताव का पिताजी की ओर से यह क्रियात्मक उत्तर था।

देहरादून की यात्रा हम दोनों भाइयों के जीवन में एक पड़ाव की हैसियत रखती है। उस यात्रा का ब्रह्मचारियों के मन और हृदय पर बहुत गहरा असर हुआ। बाहर की दुनिया से अलग रहने के कारण हमारे मन की स्लेट लगभग साफ थी। उस पर बाह्य संसार के जो पहले अक्षर लिखे गए, वे बहुत ही स्पष्ट और गहरे थे। हम लोग केवल संस्कृत-ज्ञान के श्रद्धालु रूप में यात्रा के लिए चले थे। जब वापिस आए तो विज्ञान-कला आदि की जिज्ञासा से पूर्ण थे। यह उस मनोवैज्ञानिक परीक्षण का परिणाम था, जो पिताजी ने ब्रह्मचारियों के मन पर किया था।

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

गुरुकुल काँगड़ी के दर्शक

गुरुकुल के पुराने यात्रियों को यह याद दिलाने की आवश्यकता नहीं कि गंगा के उस पार हौंने वाले वार्षिकोत्सवों में दर्शक किस अद्भुत भक्तिभाव से सम्मिलित होते थे। यह भक्तिभाव उचित था या नहीं, इस प्रश्न पर मैं विचार नहीं करता। कारण यह है कि मैं इन परिच्छेदों में संस्मरणों का संग्रह कर रहा हूँ, उनके औचित्य पर विचार नहीं कर रहा। यह भी स्मरण रखना चाहिए कि भक्ति के क्षेत्र में तर्क का अधिक प्रयोग करने से विशेष लाभ नहीं होता। यह तो बताया जा सकता है कि भक्ति किन कारणों से पैदा हुई, परन्तु आम तौर पर एक व्यक्ति के लिए पूरी तरह यह जानना अत्यन्त कठिन है कि दूसरे के हृदय में भक्तिभाव कितना है, क्यों है और कहाँ तक ठीक है। भक्ति का मौसम आ जाने पर तर्क की फसल स्वयं ही मर जाती है।

उस समय गुरुकुल के यात्रियों के हृदय में भक्ति का स्रोत बहता था। वे लोग गुरुकुल में तीर्थ की भावना रखकर आते थे। मैं इसके मुख्यतः कारण चार समझता हूँ—(1) व्याख्यानों और लेखों द्वारा पुराने गुरुकुलों का इतना आकर्षक चित्र आर्य जनता के सामने खेंचा गया था कि वे गुरुकुल में स्वर्ग के टुकड़े की कल्पना करके जाते थे। (2) गुरुकुल का हरिद्वार में होना तीर्थ की स्मृति को जगाने वाला था। यह निश्चित बात है कि यदि गुरुकुल हरिद्वार में न बनकर किसी अन्य स्थान में बनता तो उस में तीर्थ की इतनी अधिक भावना न रहती। (3) गुरुकुल के लिए जो स्थान चुना गया, वह वस्तुतः अद्भुत था। वहाँ मैंने बड़े-बड़े नास्तिकों को आस्तिकता की बातें करते सुना। (4) पिताजी का व्यक्तित्व गुरुकुल जाने से पूर्व ही आर्यसमाजियों में ऊँचा स्थान पा चुका था। आदर्शवाद और साहसिक सुधारों के कारण साधारण जनता में श्रद्धा का भाव उत्पन्न हो चुका था। उनका व्यक्तित्व भी गुरुकुल का एक विशेष आकर्षण था।

मैं इस परिच्छेद में जो अपने अनुभव की घटनाएँ लिखूँगा, उनसे यह स्पष्ट हो जाएगा कि ऊपर दिए हुए कारण किस प्रकार अपना कार्य करते थे। अपने अनुभव की जो घटनाएँ मैंने यहाँ लिखी हैं, वे मेरे गुरुकुल वास के लगभग सत्रह सालों में भिन्न-भिन्न अवसर पर घटित हुई थीं। इन सत्रह वर्षों में से दस वर्ष (1902 से 1912 तक) छात्रावास में व्यतीत हुए।

गंगा के उस पार के गुरुकुलोत्सवों के विकास पर दृष्टि डालें तो हमें

उसमें बहुत सी मनोवैज्ञानिक सच्चाइयाँ दिखाई देंगी। उनसे जनता के मानसिक भावों को परखने में बड़ी सहायता मिल सकती है। पहले आप उपस्थिति पर दृष्टि डालिए। पहला वार्षिकोत्सव 1902 में हुआ था। वह आश्रम के घेरे में ही समा गया था। अनुमान लगाया गया है कि उसमें अधिक से अधिक उपस्थिति तीन हज़ार की थी। यह संख्या प्रति वर्ष बढ़ने लगी। क्रमशः बढ़ते-बढ़ते दस वर्ष में वह 70-75 हज़ार तक पहुँच गई। जिस वर्ष देशमान्य गोपालकृष्ण गोखले के प्रतिनिधि बनकर देवधर जी गुरुकुलोत्सव पर आए थे, उस वर्ष बाहर से आए हुए दर्शकों की संख्या 75 हज़ार के लगभग आँकी गई थी।

इस संख्या का महत्त्व समझने के लिए यह जानना आवश्यक है कि गुरुकुल तक जाने की स्थिर और सामयिक कठिनाइयाँ कितनी थीं। हरिद्वार के स्टेशन से कनखल तक तो घोड़ा-गाड़ी में पहुँचा जा सकता था। वहाँ से लगभग तीन मील का रास्ता रेत, गोल पत्थर और काँटेदार घने जंगलों का था। साल में चार-पाँच महीनों तक गंगा की धाराओं पर किश्तियों या खटोलों के पुल बँधे रहते थे। उन दिनों में भी उस रास्ते की कठिनाई का अनुमान इससे लगाया जा सकता है कि दिन में या रात में, सुबह या दोपहर में वह रास्ता पैदल ही तय करना पड़ता था। सामान के लिए बैल ताँगा मिल गया तो बहुत समझो। किसी-किसी वर्ष तो ठीक उत्सव के दिनों में अधिक वर्षा हो जाने के कारण गंगा में जल बढ़ जाता था और पुल टूट जाते थे। पुल टूटने की ख़बर आते ही प्रधान जी कन्धे पर पीला दुपट्टा डालकर और लम्बी लाठी हाथ में लेकर ब्रह्मचारियों में आते थे, और कहते थे कि चलो, पुल बनायेंगे। सब बड़े ब्रह्मचारी और उनके अधिष्ठाता प्रातःकाल ही घाट पर पहुँच जाते थे, और गाँव से बुलाए हुए मल्लाहों की सहायता से पुल बनाने का कार्य आरम्भ हो जाता था। ब्रह्मचारी जाँघिया बाँध कर गंगा में कूद पड़ते थे, किश्तियों को स्थान-स्थान पर जोड़ना, खटोले जमाना और उनमें पत्थर भरना आदि सब प्रकार का काम ब्रह्मचारी, उनके अधिष्ठाता और कारीगर मिलकर करते थे। परिणाम यह होता था कि कुछ ही घण्टों में सेतुबन्ध पूरा होता दिखाई देने लगता था। मुझे अब तक वह दृश्य बड़ी स्पष्टता से याद है, जब हम लोग पुल बनाने के काम में लगे होते थे और सुबह की हरिद्वार पैसेञ्जर से आई हुई सवारियाँ गंगा के कनखल की ओर किनारे पर इकट्ठी होने लगती थीं। उन्हें देखकर हम लोग और जोर से काम करने लगते थे। एक बार उस पार दसों परिवार इकट्ठे हो गए। दोपहर के बारह बज गए, पर पुल पूरा नहीं हो सका। प्रधान जी ने उसी समय खाने का बहुत सा सामान गुरुकुल से मँगवा कर तमेड़ों पर परली पार भेज दिया और कहला भेजा कि

आप लोग वापिस न जाएँ। हम सब पुल पूरा होने पर ही खाना खायेंगे। इस पर जो यात्री तैरना जानते थे, गंगा में कूद पड़े और पुल बनाने में हमारी सहायता करने लगे। जहाँ तक याद है, दिन के दो बजे तक पुल पूरा हो गया। और गुरुकुलवासी यात्रियों को साथ लेकर गुरुकुल की ओर रवाना हो गए।

यात्रियों के ठहरने के लिए उन दिनों फूस के छप्पर बनाये जाते थे। मशहूर है कि होली पर आकाश से भी प्राय: गर्द और पानी बरसता है। उन दिनों उत्सव प्राय: होली के दिनों में हुआ करते थे। यात्रियों को कभी-कभी खुले छप्परों में आँधी-पानी का सामना करना पड़ता था। दो-एक बार आग भी लगी थी। इन सब आपत्तियों को सहते और जानते हुए भी दर्शक लोग गुरुकुल-भूमि में पहुँचते थे। इसका मुख्य कारण वह भक्तिभाव ही था, जिसके कारणों की ओर मैंने ऊपर निर्देश किया। उन दिनों यात्री गुरुकुल को तीर्थ और धर्म-स्थान समझकर वहाँ जाते थे और जितने दिन वहाँ रहते, धार्मिक भावना से प्रेरित रहने का ही यत्न करते थे।

1909-10 के लगभग दिल्ली के सेण्ट-स्टीफन्स कालेज से गुरुकुल के सम्बन्ध ऐसे हो गए थे, जैसे दो बहिन-संस्थाओं के होते हैं। मि० ए० एफ० ए० एण्डरूज़ और प्रिन्सिपल रुद्र का पिताजी से स्नेह हो गया था। उसे अकारण स्नेह का नाम ही देना चाहिए, क्योंकि न तो उसमें किसी का कुछ स्वार्थ था और न ही धर्म अथवा संस्कृति की समानता थी। केवल प्रवृत्तियों की समानता के कारण ही वह स्नेह पैदा हुआ था। एक बार सर्दी के मौसम में सेण्ट स्टीफन्स कालेज के नौजवान प्रोफेसर पियर्सन गुरुकुल आए। मिस्टर पियर्सन की आयु 25-26 वर्ष की होगी। वे स्काटलैण्ड निवासी थे। प्रातःकाल की गाड़ी से उतरे। स्टेशन से गुरुकुल तक का मार्ग-प्रदर्शन करने का काम मेरे ज़िम्मे लगाया गया था। मैंने उन्हें गुरुकुल की पक्की धर्मशाला में ठहरा दिया। वह धर्मशाला गुरुकुल की इमारतों से अलग एकान्त स्थान में बनी हुई थी और सुन्दर उद्यान से घिरी थी। उस उद्यान को गुरुकुल वाले मक्खन की वाटिका के नाम से पुकारते थे। मक्खन उस वाटिका के माली का नाम था। यदि गुरुकुल का कोई पुराना यात्री उसकी स्मृति से खिंचा हुआ गंगा को पार करके आज भी उस पुरानी भूमि में जाने का परिश्रम उठाए, तो वह घने जंगल में एक पक्की सफेद इमारत को देखेगा, जिसे वह आसानी से नहीं पहचान सकेगा कि यह वही पक्की धर्मशाला है। पहिचान लेने पर वह अवश्य ही आश्चर्य करेगा कि गंगा की तूफानी बाढ़, मनुष्य की घोर उपेक्षा और समय की निरन्तर चोटों को सहकर भी यह इमारत किस तरह साबुत खड़ी है। उस समय यही वाक्य मुँह से निकलता है—'जिसको राखे साइयाँ मार

सके न कोय।'

हाँ, तो मैंने मिस्टर पियर्सन को पक्की धर्मशाला में ठहरा दिया, और उनके स्नान आदि का प्रबन्ध करके अन्यत्र चला गया। थोड़ी देर के बाद लौट कर देखता हूँ कि पियर्सन साहब नदारद हैं। मक्खन से पूछने पर मालूम हुआ कि मेरे जाने के थोड़ी देर बाद ही कोट, पैण्ट की जगह धोती, कुर्ता पहिन कर गंगा की ओर चले गए थे। अब मैं उनकी तलाश में गंगा की ओर चला। वहाँ जाकर देखता हूँ तो वह गंगा के किनारे रेत में से छोटे-छोटे पत्थरों को उठाते और पानी में फेंक कर आनन्द ले रहे हैं। मैं पास पहुँचा तो अत्यन्त प्रसन्न मुख होकर मुझसे कहने लगे—'ओह, यह तो बहुत ही प्यारी जगह है, मैं तो यहाँ आकर अपने-आप को भूल गया। मुझे तो इसने अपनी मातृभूमि स्काटलैण्ड के दृश्य याद करा दिये।'

जिन दिनों की घटना सुनाने लगा हूँ,उन दिनों मैं दिल्ली में 'सद्धर्म-प्रचारक' का सम्पादन करता था। दक्षिण अफ्रीका से एक हिन्दुस्तानी ईसाई बैरिस्टर भारत-भ्रमण के लिए आए थे। उनका नाम सम्भवतः मिस्टर गौडफ्रे था। मैं देहली से उनके साथ गया। हरिद्वार स्टेशन से कनखल तक घोड़ा-गाड़ी में गए। कनखल पहुँचकर जब मिस्टर गौडफ्रे ने रेत और पत्थर के रास्ते पर दृष्टि डाली तो घबरा गए। उनकी आयु लगभग 50 वर्ष की होगी। वह कोट, पैण्ट और अंग्रेज़ी टोपी पहिने हुए थे। मैंने उनकी घबराहट को देखकर घोड़ा-गाड़ी वाले को गुरुकुल चलने के लिए पूछा, पर वह तैयार न हुआ। उस गहरी रेत और उन भारी-भारी गोल पत्थरों पर से सवारी को खींच ले जाना गऊ के जाएों के बस की ही बात थी। घोड़ा ऐसी जगह जवाब दे जाता है। मिस्टर गौडफ्रे ने भी जब यह लाचारी देखी तो हिम्मत बाँध कर पैदल जाने को तैयार हो गए और आलंकारिक भाषा में कह सकते हैं कि उस रेत और पत्थर के दरिया में अपनी पैदल किश्ती छोड़ दी। हम लोग चल दिए। मिस्टर गौडफ्रे चल तो दिए, परन्तु उन पर परेशानी इस बुरी तरह सवार थी कि चुपचाप चले जा रहे थे। बार-बार पसीना आता था, जिसे रूमाल से पोंछते जाते थे। मैंने कई बार बात में लगाने की कोशिश की, किन्तु वह चुप थे। मैं समझ गया कि आज एक बुजुर्ग पर बहुत कठोरता हो गई। जब गुरुकुल पहुँचे तब काफी दिन चढ़ चुका था। स्नानादि की व्यवस्था करके मैं चला गया और फिर लगभग एक घण्टे के पीछे वापिस आया तो देखा कि मिस्टर गौडफ्रे वाटिका में टहल रहे हैं। मेरे आते ही उन्होंने कहा—"पण्डित जी, मैं रास्ते में आपसे बहुत नाराज़ था, परन्तु यहाँ आकर और इस जगह को देखकर मेरी सब थकान उतर गई और अब मैं आपका धन्यवाद करता हूँ कि आप मुझे ऐसे स्वर्गीय स्थान में ले आए।"

सोलहवाँ परिच्छेद

प्राचीन और नवीन का संघर्ष

इन संस्मरणों से मैंने यथाशक्ति अपने व्यक्तित्व को गौण रखने का यत्न किया है। इस घटनाचक्र में वस्तुतः वह था भी गौण ही। जिस घटनाचक्र की यह सच्ची कहानी है, उसके मुख्य पात्र पिताजी थे। सहायक पात्र अवस्थानुसार बदलते रहे। पिताजी का जीवन एक अत्यन्त प्रगतिशील जीवन था। शायद ही कोई पाँच साल ऐसे हों, जिन में उस जीवन की दृश्यावली में पूरा परिवर्तन न हो गया हो। दृश्य निरन्तर बदलते जाते थे और सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि वह परिवर्तन पिताजी की ही इच्छाशक्ति और प्रयत्न से होते थे। पिताजी परिस्थितियों को पैदा करते थे, उनके बहाव में नहीं थे। हम दोनों भाई उनके चलाए हुए घटना-प्रवाह में काठ की तरह तैर रहे थे।

अब मैं जिस घटना का विवरण देने लगा हूँ, उससे पाठक थोड़ा सा भेद पाएँगे। उसमें मुझे कुछ आपबीती सुनानी पड़ेगी। इस भेद का कारण यह है कि गुरुकुल की चिकित्सा-प्रणाली में जो परिवर्तन हुआ, उसको मेरे जीवन की एक घटना से प्रबल प्रेरणा मिली है।

उस समय मेरी आयु 14 साल की होगी। इन संस्मरणों में इस से पूर्व मैं बतला चुका हूँ कि बचपन में मैं बहुत बीमार रहा। गुरुकुल में प्रवेश के समय मैं उन बच्चों में गिना जाता था, जिनके शरीर निर्बल थे। गुरुकुल में व्यायाम और सात्त्विक भोजन से मेरा शरीर पुष्ट होने लगा। सब प्रकार के खेलों में मैं साधारण रूप से अच्छा समझा जाता था। कुश्तियों में ब्रह्मचारियों में शायद मेरा नम्बर पहला था। 'शायद' शब्द मैंने इसलिए लगा दिया कि उस समय के मेरे साथियों में से यदि कोई मेरी स्थापना को गलत समझें तो मैं इसे एक दम वापस ले लूँगा। शरीर हलका होने के कारण मुझे भारी शरीर वालों से कुश्ती लड़ने में बहुत सहूलियत रहती थी। बिजनौर जिले के एक वकील थे, जिनका नाम चौधरी नारायणसिंह था। वह बरसात के दिनों में हम लोगों को कुश्ती सिखाने आया करते थे। मैं उनका प्रधान शिष्य था। कुश्ती ने मेरे शरीर को मोटा होने से बचाया और मज़बूत बना दिया।

मेरी ऐसी शारीरिक दशा थी, जब मलेरिया ने मुझे दबा लिया। हर दूसरे रोज़ जाड़े के साथ बुखार आने लगा। उस समय की प्रचलित पद्धति के अनुसार बुखार को व्यायाम से दबाने की चेष्टा की गई,उस के निष्फल होने पर कुछ दिनों तक दूध में घी डालकर दिया गया, तब भी बुखार न टूटा तो

पिटारी की गोलियों का प्रयोग किया गया, परन्तु मर्ज़ बढ़ता गया, ज्यो-ज्यों दवा की। उन दिनों डाक्टर सुखदेव जी गुरुकुल में आ चुके थे, परन्तु जहाँ तक मुझे याद है, अभी गुरुकुल के चिकित्सक नहीं बने थे। उन्हें मेरी दशा पर तरस आया तो उन्होंने प्रधान जी से कहा कि 'इन्द्र को मलेरिया बुंखार आ रहा है, इसे जब तक कुनीन न दी जाऐगी, बुखार का टूटना असम्भव है।' प्रधान जी ने इस बात से सहमत होकर आचार्य जी से सलाह की। आचार्य जी को मुझसे बहुत प्रेम था। उन्होंने पिताजी को जो उत्तर दिया, वह मुझे अब तक याद है। उन्होंने कहा—'लड़के को कुनीन देने से तो अच्छा है कि उसे जहर दे दिया जाए।' इस पर पिताजी चुप हो गए, परन्तु डाक्टर सुखदेव जी चुप नहीं हुए, उन्होंने कुनीन देने का आग्रह जारी रखा। जो लोग डाक्टर सुखदेव जी को जानते है, उन्हें विदित है कि अपनी धुन में रहना और अपनी बात पर अड़ना उनके चरित्र का प्रधान अंग है। जिनकी दृष्टि में डाक्टर सुखदेव जी अच्छे हैं, वे उपर्युक्त विशेषता को चरित्र-बल के नाम से पुकारते हैं, और जिन्हें वे अच्छे नहीं लगते, वे इसी विशेषता को उनका दोष मानते हैं। सो डाक्टर जी अड़ गए, और यह नोटिस दे दिया कि यदि इन्द्र को एक बार और बुखार आएगा तो मैं उसे कुनीन अवश्य दूँगा, चाहे उसका परिणाम कुछ भी हो। पिताजी ने डाक्टर जी का यह दृढ़ निश्चय आचार्य जी को बतला दिया और साथ ही अपनी सम्मति भी प्रकट कर दी। चैलेञ्ज मिलने पर आचार्य जी ने अपनी दवा की मात्रा बढ़ा दी, जिसका परिणाम यह हुआ कि बुखार भी अभूतपूर्व प्रकम्पन और गर्जन के साथ चढ़ा। टैम्प्रेचर 105 से ऊपर पहुँचा। उस बुखार ने डाक्टर जी को आचार्य जी पर पहली विजय प्राप्त करने का अवसर दिया। 105 दर्जे की दशा में मेरे इलाज का उत्तरदायित्व डाक्टर जी को दे दिया गया। बुखार उतर जाने पर डाक्टर जी ने पहला काम यह किया कि मुझे मगनेशिया साल्ट की एक ज़बरदस्त खुराक दी, जिससे मेरा पेट खूब साफ हो गया। बुखार की बारी के दिन ब्राह्म-मुहूर्त से ही मुझे कुनीन मिक्स्चर के डोज़ मिलने शुरू हो गए। पूरी तरह याद नहीं कि कितनी कुनीन मिली। शायद डाक्टर जी को याद हो। इतना ही याद है कि कानों ने काम देना बिल्कुल बन्द कर दिया और सारे शरीर में कुनीन की गर्मी बुखार की तरह फैली हुई प्रतीत होती थी। मेरी अपनी दशा तो जैसी थी, वैसी थी ही, बेचारे डाक्टर जी की दशा देखकर मुझे बड़ी दया आ रही थी। वह मानों डाक्टरी का इम्तिहान दे रहे थे। बड़े पण्डित जी, भण्डारी जी और कुनीन-विरोधी दल के अन्य सब सदस्य बड़ी कड़ी नज़र से कुनीन के इस परीक्षण के फल की प्रतीक्षा कर रहे थे। बुखार दोपहर के पश्चात् आता था। डाक्टर जी थर्मामीटर हाथ में लिए मेरे पास बैठे थे। ठीक समय पर सर्दी लगनी आरम्भ हो गई, और आँखें गर्म होने लगीं। यह बात शीघ्र ही

गुरुकुल-भर में मशहूर हो गई कि कुनीन की बोतल की बोतल पिला देने पर भी बुखार नहीं रोका जा सका। बुखार चढ़ गया, परन्तु तापमान 100 से अधिक नहीं बढ़ा। रात होने तक कुनीन-विरोधी दल ने प्रतीक्षा की। जब देखा कि बुखार अधिक नहीं चढ़ा तो यह कहकर सन्तोष कर लिया कि 'यह तो आकस्मिक बात है कि बुखार कम आया'। मैं बतला देना चाहता हूँ कि चिकित्सा-पद्धतियों के उस संघर्ष में उस समय मेरी सहानुभूति कुनीन के पक्ष में थी, क्योंकि मैं हर रोज दूसरे रोज़ आने वाले बुखार से बहुत ही परेशान हो चुका था। उसकी अपेक्षा तो मुझे कोई भी बला अच्छी मालूम देती थी।

बारी के अगले दिन कुनीन की फिर उसी जोर से प्रयोग किया गया। सम्भव है कि कुछ अधिक मात्रा ही दी गई हो। उस दिन बुखार नहीं आया। मलेरिया कुनीन के आगे भाग निकला। इस सफलता ने गुरुकुल में कुनीन और उसके साथ ही एलोपैथिक चिकित्सा के पाँव फिर से जमा दिये। गुरुकुल और उसके आसपास चिकित्सक के तौर पर डाक्टर सुखदेव जी की धाक उसी समय से बैठ गई। यह प्राचीनता के गढ़ में नवीनता के प्रवेश की दूसरी घटना थी।

आगे चलने से पहिले यहाँ पं० गंगादत्त जी के और डाक्टर सुखदेव जी के संघर्ष की एक और बात भी सुना देता हूँ। डाक्टर जी पैदायशी प्रचारक (मिश्नरी) हैं। कोई न कोई धुन उन पर हमेशा सवार रहती है। उन दिनों कुनीन-प्रचार के कार्य में सफलता हो जाने पर उन्हें दूसरी धुन यह सवार हुई कि गुरुकुल के मेहतरों को अपनाया जाए। डाक्टर जी उनके घरों में जाकर सफाई का उपदेश देने लगे, और उनके बच्चों को पढ़ाने का उपक्रम कर दिया। इस पर विरोध का जो तूफान उठा, वह कुनीन-विरोधी आन्दोलन से भी बड़ा था। अध्यापकों में, ब्रह्मचारियों में और नौकरों तक में इसकी चर्चा होने लगी। उस चर्चा में डाक्टर जी के विरुद्ध उचित-अनुचित सभी तरह की बातें कही गईं। पिताजी पर आचार्य जी तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं की ओर से जोर डाला गया कि वह डाक्टर जी को इस कार्य से रोकें। पिताजी ने स्पष्ट उत्तर दिया कि वह डाक्टर जी के कार्य को धर्मानुकूल और आवश्यक मानते हैं, इस कारण उन्हें रोकने की जरूरत नहीं समझते। यह संघर्ष कई महीनों तक, सम्भवतः डेढ़-दो साल तक चला। फिर धीरे-धीरे ठण्डा होने लगा और अन्त में न केवल शान्त हो गया, अपितु दलितोद्धार के पक्ष में प्रबल आन्दोलन के रूप में परिणत हो गया, जिसमें ब्रह्मचारियों की सहानुभूति भी सम्मिलित थी।

गुरुकुल के प्रारम्भिक प्रास्पेक्टस में यह विचार स्पष्ट रूप में लिखा गया था कि गुरुकुल में भारतीय विद्याओं के साथ-साथ पश्चिम की नवीन व्यावहारिक विद्याओं की शिक्षा भी दी जाएगी। इस कारण गुरुकुल में पूर्व और पश्चिम की उपादेय बातों के समावेश की भावना नई नहीं थी। पिताजी

का इससे पूर्व का सारा जीवन इतना प्रगतिशील था कि उसमें अपरिवर्तनवादिता के लिए कोई गुँजाइश नहीं थी। फिर भी प्रारम्भिक वर्षों में गुरुकुल में इतना विचार-संघर्ष हो गया, इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि शुरू में पिताजी को जो सहायक मिले, उनमें गुरुकुल को चलाने की अन्य बहुत सी योग्यताएँ होते हुए भी उनके दृष्टि-क्षेत्र बहुत संकुचित थे। आचार्य गंगादत्त जी एक तपस्वी विद्वान् थे। ब्रह्मचर्य में उनकी दृढ़ निष्ठा थी। जब तक वह गुरुकुल में आचार्य रहे, अपनी सम्मति के अनुसार ब्रह्मचारियों के हित-चिन्तन और चरित्र-निर्माण का भरसक यत्न करते रहे। इन अर्थों में वे सच्चे आचार्य थे। स्वयं सदाचारी थे और ब्रह्मचारियों को सदाचारी बनाना चाहते थे। व्यायाम के वह पुजारी थे। इन सब गुणों के साथ ही उनमें एक विशेषता यह थी कि उनका दृष्टिकोण परिमित था। परिस्थितियों के साथ मेल करने के लिए आवश्यक परिवर्तन करना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। इस कारण जब भी कोई नवीन वस्तु गुरुकुल में प्रवेश करने लगती थी, तब आचार्य जी उसे सन्देह की दृष्टि से देखते थे। पिताजी आचार्य जी का आदर करते थे और उनसे स्नेह भी करते थे। यथासम्भव वह किसी बात में भी उनकी सम्मति के विरुद्ध नहीं चलना चाहते थे, परन्तु जब कोई परिवर्तन आवश्यक हो जाता था तो आचार्य जी की अनिच्छा को काफी रियायत देकर, कुछ समय के पश्चात् परिवर्तन हो जाने देते थे। कभी-कभी तो बहुत ही छोटी सी बात पर मतभेद खड़ा हो जाता था। एक बार यह विचार हुआ कि हमें साइंस के कुछ सिद्धान्त बतलाए जाएँ। एक अध्यापक ने साइंस की प्राइमर लेकर मौखिक रूप से ही यह समझाया कि पानी दो गैसों के मिलने से बनता है। जब हमने आश्रम में जाकर इस बात की चर्चा की तो संस्कृत के अध्यापक-मण्डल की ओर से घोर विरोध किया गया और कहा गया कि जल तो पदार्थ है, वह दो गैसों से कैसे बन सकता है। इसी आधार पर साइंस की पढ़ाई का विरोध बहुत दिनों तक होता रहा।

उन दिनों का एक छोटा सा चुटकुला याद आता है। वह भी लिख देता हूँ। एक पंडित जी ने, जिन्होंने व्याकरण और धर्मशास्त्र तो पढ़ा था, परन्तु साहित्य से अनभिज्ञ थे। एक दिन हम लोगों से कहने लगे कि नवीन संस्कृत-साहित्य बिल्कुल नहीं पढ़ना चाहिए, क्योंकि वह श्रृंगार-रस से पूर्ण है। मैंने कहा—"पण्डित जी, सारा नवीन संस्कृत-साहित्य खराब नहीं है। दृष्टान्त के लिए वेणी-श्रृंगार को ले लीजिए, उसमें श्रृंगार का लेश भी नहीं है।" इस पर पण्डित जी हँसकर बोले—"वाह, इसके तो नाम से ही श्रृंगार प्रकट होता है, क्योंकि नाम ही वेणी-श्रृंगार है।" इस पर ब्रह्मचारी हँस पड़े। पण्डित जी ने शायद हमारे हँसने से भी वही परिणाम निकाला होगा कि वेणी-श्रृंगार जैसे अश्लील नाटक के पढ़ने से इनके दिमाग खराब हो गए हैं।

सत्रहवाँ परिच्छेद

सरकारी कोप की घटा

मैं इससे पहिले के परिच्छेदों में बतला आया हूँ कि बंग-विच्छेद के दिनों में गुरुकुल काँगड़ी के सिर पर सरकारी कोप के काले बादल घिर आये थे। सरकार के सन्देह के कई कारण थे। गंगा के उस पार, दुनिया से अलग-थलग, सर्वथा स्वतन्त्र उपनिवेश के रूप में गुरुकुल सिर उठाये खड़ा था। गुरुकुल विश्वविद्यालय भारतवर्ष में उस समय एक मात्र ऐसा शिक्षणालय था, जो किसी प्रकार भी सरकार के नियन्त्रण में नहीं था। गुरुकुल के अधिकारी सरकारी अफसरों की खुशामद नहीं करते थे और गुरुकुल के छात्र अंग्रेज़ों को सलाम करना नहीं जानते थे। उन दिनों हमारा राजनीतिक आन्दोलन प्रारम्भिक अवस्था में था। शासकों के दिमाग़ अभी उसे समझ नहीं पाये थे। अभी उनकी मानसिक अवस्था फ्रांस के राजा 16 वें लुई जैसी थी। जब फ्रांस में क्रान्ति का सूत्रपात हुआ और पहिली बार पेरिस की जनता ट्यलरीज़ के महलों के नीचे इकट्ठी होकर 'भूख, भूख' का शोर मचा रही थी और सम्राट् से रोटी माँग रही थी, तब लुई ने वज़ीर से कहा था—"वह क्या शोर मच रहा है? क्या यह बग़ावत है?"

वज़ीर ने उत्तर दिया—"नहीं महाराज! यह बग़ावत नहीं, क्रान्ति है।"

उस समय तक भारत के शासक यही समझ रहे थे कि बंगाल और पंजाब में जो तूफान उठा है, वह गुलाम भारतवासियों की बग़ावत है। इस कारण वे समझते थे कि बाग़ियों के दिमाग़ में से सलाम करा कर बग़ावत को निकाला जा सकता है। इस प्रसंग में मैं एक छोटी सी आपबीती सुना दूँ तो अनुचित न होगा।

उस वर्ष हम लोग सरस्वती-यात्रा के लिए धर्मशाला के पहाड़ पर गए थे। ब्रह्मचारियों के साथ प्रधान जी (पिताजी) के अतिरिक्त कई प्रसिद्ध आर्यसमाजी भी थे। एक दिन प्रातःकाल के समय कुछ विद्यार्थी छावनी की सड़क पर घूमने के लिए जा निकले। हम लोगों के साथ अधिष्ठाता के रूप में डाक्टर सुखदेव जी थे। ब्रह्मचारियों के सिर नंगे थे और हाथों में डण्डे थे। हम लोग बातें करते हुए जा रहे थे कि सामने से दो गोरे घुड़सवार आते दिखाई दिये। जब वे पास आए, तब हम सड़क के एक किनारे होकर चलने लगे और समझा कि हम ने बीच का रास्ता छोड़ कर शिष्टाचार का परिचय दे दिया है; परन्तु गौरांग जाति के उन प्रतिनिधियों ने वैसा नहीं समझा। मेरे

आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब मैंने देखा कि एक गोरे ने अपना घोड़ा मध्य रास्ते को छोड़ कर मेरी ओर बढ़ा दिया है। मैं यह अद्‌भुत बात देखकर खड़ा हो गया। गोरे का घोड़ा मेरे इतने पास आ गया था कि घोड़े की थूथनी की साँस मेरे शरीर को छू रही थी। मैं विस्मित होकर गोरे के मुँह की ओर देखने लगा। वह शायद आ ।ा रखता था कि मैं उसकी और उसके घोड़े की शक्ल देखकर या तो भाग खड़ा हूँगा या ज़मीन पर नाक रगड़ने लगूँगा, परन्तु मैंने वैसा कुछ भी नहीं किया और जहाँ का तहाँ खड़ा रहा। इस पर अत्यन्त क्रोध-भरे स्वर से उसने कहा—"सलाम करो, सलाम।"

मैंने वहीं खड़े-खड़े उत्तर दिया—"क्यों सलाम करें?"

इस उत्तर से और भी भड़क कर गोरे ने अपने घोड़े को और भी आगे बढ़ाते हुए अंग्रेज़ी में कहा—"तुम्हें चाहिए कि हरेक अंग्रेज़ को सलाम करो।"

घोड़े का मुँह बिल्कुल मेरी छाती से लग गया था, पर मैं वहीं अचल खड़ा रहा। मैंने शान्त भाव से उत्तर दिया—"ऐसा कोई कानून नहीं, जो हमसे ज़बरदस्ती सलाम करा सके।"

गोरे ने फिर कहा—"तुम सलाम नहीं करेगा?"

मैंने उत्तर दिया—"नहीं।"

अब गोरे के सामने दो रास्ते खुले थे—या तो वह घोड़ा मुझ पर चढ़ा देता या हार मानकर, सलाम लिए बिना ही अपना रास्ता नापता। लगभग एक मिनट तक मैं, गोरा और उसका घोड़ा उसी स्थिति में खड़े रहे। मैं और मेरे सब साथी इस प्रतीक्षा में रहे कि अब क्या होता है। अन्त में गोरा केवल 'बुली' साबित हुआ और घोड़े की बाग खींच कर यह कहते हुए वहाँ से चल दिया—"टुम सलाम नहीं करटा, अच्छा डेखा जाएगा।"

यह मैंने उस समय की अंग्रेज़ी मनोवृत्ति का एक नमूना दिया है। उपर्युक्त घटना उस समय गुरुकुल से निकलने वाले 'वैदिक मैंगज़ीन' नाम पत्र में प्रकाशित की गई थी, और सिपाही की शिकायतें धर्मशाला के कमाण्डिंग आफिसर के पास भी भेजी गई थी। कमाण्डिंग आफिसर ने घटना पर दुःख प्रकट करते हुए गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता को (पिताजी को) जो पत्र लिखा, उसमें यह आशा दिलाई थी कि सिपाही को चेतावनी दे दी जाएगी। यह सब केवल रिवाज ही था, क्योंकि कुछ दिन पीछे धर्मशाला में ही हमारे एक दूसरे साथी के साथ फिर वैसी ही घटना घटित हुई।

नौकरशाही शासन में जो झुकना या सलाम करना नहीं जाने, वह सन्देह की दृष्टि से देखा जाता था। गुरुकुल के अधिकारियों और ब्रह्मचारियों का सबसे बड़ा दोष यही था कि वे न सरकार से कुछ माँगते थे और न अफसरों की दहलीज़ पर सिर झुकाना आवश्यक समझते थे।

गुरुकुल पर सरकार की यह सन्देह-दृष्टि अनेक बातों में प्रकट होती थी। गुरुकुल में दर्शक-रूप से आने वाले खुफिया पुलिस के ऊँचे अधिकारियों का ताँता लगा रहता था। जब कभी गुरुकुल के ब्रह्मचारी सरस्वती-यात्राओं पर निकलते थे, तब उनके पीछे-पीछे गुप्तचर बुलडॉग की तरह लगे रहते थे, और गुरुकुल के जो कार्य सरकार के सहयोग की अपेक्षा करते थे, उनमें रोड़े अटकाए जाते थे।

एक बार की बात है, शायद सितम्बर का महीना था, पिताजी स्वास्थ्य-सुधार के लिए क्वेटा गए हुए थे। गुरुकुल काँगड़ी से तीन मील की दूरी पर चण्डी पहाड़ के नीचे बिजनौर के कलेक्टर, जिनका नाम शायद फोर्ड था, डेरा डाले पड़े थे। गुरुकुल में पिताजी की अनुपस्थिति के कारण स्वर्गीय आचार्य रामदेव जी अथवा स्वर्गीय प्रोफेसर बालकृष्ण जी में से कोई महानुभाव मुख्याधिष्ठाता का कार्य कर रहे थे। गुरुकुल में ख़बर पहुँची कि सरकार को गुरुकुल में हथियारों के गुप्त स्टोर होने का अन्देशा है। इस कारण गुरुकुल की तलाशी लेने के लिए और यदि आवश्यकता हो तो अन्य कठोर कार्यवाही करने के लिए स्वयं कलेक्टर साहब तशरीफ लाए हैं। सम्भव है, दो-चार दिन में तलाशी हो जाए। शस्त्रास्त्रों का कोई गुप्त स्टोर न होते हुए भी समाचार बहुत सनसनीपूर्ण था, जिससे प्रभावित होकर गुरुकुल कार्यालय से पिताजी को इस आशय का तार दिया गया कि स्थिति गम्भीर है, जल्दी आइये।

पिताजी देखने में खूब लम्बे-चौड़े और हृष्ट-पुष्ट होते हुए भी कई रोगों के शिकार बने हुए थे। बवासीर का रोग उन्हें पैतृक मिला था। प्रौढ़ावस्था में हर्निया की शिकायत हो गई थी और साथ ही निरन्तर मानसिक परिश्रम करने के कारण आधे सिर का दर्द रहने लगा था। कई वर्षों तक तो पिताजी ने न रोगों की परवाह की और न चिकित्सकों की, परन्तु जब अन्त में निरन्तर सिर-दर्द के कारण कार्य करना भी असम्भव हो गया, तब एक-दो महीनें तक विश्राम करने के लिए क्वेटा चले गए थे। वहाँ पहुँचे अभी सम्भवतः 10 दिन भी नहीं हुए होंगे कि गुरुकुल से उपर्युक्त तार पहुँच गया, जो सैकड़ों मीलों का सफर कराकर और सिंध की गरम हवा और रेत का स्नान कराकर तीसरे दिन पिताजी को हरिद्वार खेंच लाया।

क्वेटा से वापिस आने पर पिताजी को जब समाचार मालूम हुए तो उन्होंने अपने स्वभावानुसार शेर की गुफा में पहुँचकर उससे दो-दो बातें करने का निश्चय किया। उसी रोज़ अथवा उससे अगले रोज़ आप गुरुकुल के सवारी बैल-तांगे में बैठकर क्लेक्टर के कैम्प पर जा पहुँचे और मिलने के लिए अपना कार्ड भेज दिया। कलेक्टर, जो शायद उसी समय तलाशी के वारण्ट पर हस्ताक्षर कर चुका था, दुविधा में पड़ गया। पुलिस ने तो यह

रिपोर्ट दी थी कि महात्मा मुन्शीराम गुरुकुल से चले गए हैं और उनके स्थान पर अनुभवहीन क्रान्तिकारी नौजवान गुरुकुल का संचालन कर रहे हैं। यदि गुरुकुल की तलाशी लेनी है तो यही अच्छा मौका है तथा भविष्य के लिए इस खतरनाक संस्था से छुटकारा पाने का भी यही अवसर है। इस रिपोर्ट के आधार पर ही सब तैयारी की गई थी। ऐसे समय अकस्मात् पिताजी के नाम का विजिटिंग कार्ड प्राप्त करके कलेक्टर थोड़ी देर के लिए चक्कर में आ गया कि क्या करे। पुलिस की दौड़ लेकर गुरुकुल की ओर कूच करे या उसके गवर्नर से बातचीत करने में समय व्यतीत करे।

अंग्रेज़, चाहे वह कैसा भी हो, बँधे हुए रिवाजों का मानने वाला होता है। इसे उसके स्वभाव का दोष कहो या गुण, है यह उसकी प्रकृति। एक सज्जन ने विज़िटिंग कार्ड भेजा है तो प्रचलित रिवाज कहता है कि उसे मिलने के लिए बुलाना चाहिए। मिस्टर फोर्ड ने भी पिताजी को मिलने के लिए अपने खेमे में बुला लिया।

उस बातचीत में क्या हुआ, यह लिखने की आवश्यकता नहीं है। इतना बतला देना पर्याप्त है कि उसका परिणाम क्या हुआ। उस दिन की बातचीत में जो बीजपात हुआ, वह कुछ वर्षों में भारत के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड द्वारा गुरुकुल काँगड़ी की तीर्थ-यात्रा के रूप में फलीभूत हुआ। वायसराय के गुरुकुल-आगमन को शायद कुछ लोग सरकारी अफसर द्वारा एक शिक्षण-संस्था के निरीक्षण का रूप दें, परन्तु जिन लोगों ने उस घटना को आदि से अन्त तक देखा था, उन्हें यह विश्वास हो गया है कि वायसराय का गुरुकुलागमन केवल सरकारी दौरे का हिस्सा नहीं था, प्रत्युत उसमें कुछ प्रयोजन और भावुकता का अंश भी था।

पाठक उस भावुकता का रूप और कारण जानने के लिए अवश्य उत्सुक होंगे। सम्भव है, मेरे दिये हुए समाधान में से पाठकों को उस पक्षपात की बू आए, जो स्वभावत: किसी पुत्र को अपने महान् पिता के लिए होनी चाहिए। इस खतरे को उठाकर भी मैं यह कहने का साहस करता हूँ कि इसका मुख्य कारण पिताजी का गौरवयुक्त और आकर्षण व्यक्तित्व ही था। विदेशियों पर उनके व्यक्तित्व का अद्भुत असर पड़ता था। मेरे पास उनके कई अंग्रेज़, अमेरिकन तथा अन्य विदेशी मित्रों और भक्तों के बीसियों पत्र सँभाल कर रखे हुए हैं, जिनसे प्रतीत होता है कि वे लोग निजू रूप में भी पिताजी के प्रति गहरे प्रेम और भक्ति की भावना रखते थे। संयुक्त प्रान्त के उस समय के गवर्नर लार्ड मेस्टन (जो उस समय सर जेम्स मेस्टन थे), मि० मैकडानल्ड, जो उस समय अंग्रेजी पार्लियामेण्ट में मजदूर दल के नेता थे (और पीछे इंग्लैण्ड के प्राइम मिनिस्टर बने) दीनबन्धु सी० एफ० एण्डरूज़ तथा प्रसिद्ध

अमेरिकन पत्रकार मि० फैल्प्स आदि के नाम गुरुकुल का पुराना इतिहास जानने वालों को विदित ही हैं। इन प्रसिद्ध नामों के अतिरिक्त कुछ अन्य दृष्टान्त भी ऐसे थे, जिनसे पिताजी का व्यक्तित्व आकर्षण और भी अधिक स्पष्टता से प्रतीत होता था।

ऐसा एक दृष्टान्त मैं यहाँ देता हूँ। उन्हीं दिनों की बात है कि रुड़की से एक नये ज्वाइण्ट मजिस्ट्रेट आए। वह आयरलैण्ड के सम्भवत: उत्तरीय आयरलैण्ड के निवासी थे। उनका नाम लिखना यहाँ आवश्यक नहीं। वह दौरे पर हरिद्वार पहुँचे तो शायद एक विद्रोही संस्था को देखने की उत्सुकता से गुरुकुल भी गए। वहाँ मुख्याधिष्ठाता के बँगले पर जाकर लगभग एक घण्टे तक उनसे बातचीत की। उस बातचीत का परिणाम यह निकला कि वे सज्जन पिताजी के शिष्यों में शामिल हो गए। उनके हरिद्वार के दौरों की संख्या बढ़ गई और हरेक दौरे में गुरुकुल का एक चक्कर लगाना आवश्यक सा हो गया। उनकी मिलनसारी और खुशमिज़ाजी का एक नमूना काफी मनोरंजक है। अप्रासंगिक होते हुए भी मेरे लिए उसके लिखने का प्रलोभन संवरण करना कठिन है। उन्हें हिन्दुस्तानी में बोलने का बहुत शौक था। उन दिनों गंगा के पुल का ठेका एक ऐसे सज्जन के हाथ में था, जो गुरुकुल के परम हितैषी थे, किन्तु देववशात् आँखों से भैंगे थे। आयरिश महोदय जब कभी ठेकेदार की चर्चा करते, तब कहा करते थे कि मुझे बचपन में भैंगे आदमी से बहुत डराया जाता था। इसलिए अब भी मुझे ठेकेदार को देखकर डर लगता है। इधर गुरुकुल में एक प्रोफेसर थे, जो प्रकृति देवी की कृपा से काने थे। वह किसी कारण से गुरुकुल से रूठ गए और हरिद्वार में बैठकर गुरुकुल के विरुद्ध पैम्फलेट आदि द्वारा प्रचार का कार्य करने लगे। उन्हीं दिनों आयरिश महोदय गुरुकुल आए। उनसे एकाक्ष प्रोफेसर की चर्चा हुई, तो उन्होंने हिन्दुस्तानी में कहा—"अब मुझे ठेकेदार से डर नहीं लगता, क्योंकि मैंने यह भी सुना है कि—

ऐंचाताना करे पुकार,
मैं काने से मानी हार।"

बात मज़ेदार और लगती हुई थी, इसलिए याद रह गई। अब प्रसंगागत बात सुनिए—

एक दिन वे आयरिश महोदय पिताजी के पास आए और कहा—"मैं विवाह करने के लिए कुछ महीनों की छुट्टी पर जा रहा हूँ। मुझे कुछ सन्देश दीजिए।" पिताजी ने कहा—"इस समय तो मैं तुम्हारे लिए केवल मंगलकामना करता हूँ। जब तुम अपनी अर्धांगिनी सहित वापिस आओगे, सन्देश उस समय दूँगा।" वह सज्जन विवाह के लिए चले गए। कई महीनों के पश्चात्

जब पत्नी सहित लौटे तो रुड़की से पहिला अवसर तलाश करके गुरुकुल आए और पत्नी सहित पिताजी के पास पहुँचे। पिताजी ने उन्हें संयम और निरामिष भोजन का उपदेश दिया। वह आयरिश सज्जन क्रम से कलेक्टर के पद पर पहुँच कर कमिश्नर तक बने और संयुक्तप्रान्त के अनेक राजकीय अधिकारों पर रहे। इस सम्पूर्ण समय में वह निरन्तर पिताजी से पत्र-व्यवहार करते रहे, जिसमें अपनी प्रेम और भक्ति की भावना को सदा प्रकट करते रहे।

पिताजी के बलिदान के बाद एक बार अख़बारों में पढ़ा था कि कहीं के कमिश्नर होते हुए भी उस आयरिश महानुभाव ने एक फैसले में इलाहाबाद हाईकोर्ट के जजों को किसी मुकदमे का सही फैसला न करने पर जोरदार फटकार बतला दी थी, जिनके कारण नौकरशाही प्रणाली के सिद्धान्त के अनुसार उन्हें समय से पहले नौकरी से रिटायर हो जाना पड़ा। हम लोगों को उनके इस प्रकार रिटायर किए जाने पर कोई आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि हम तो इस पर आश्चर्यित थे कि वे इतने दिनों तक नौकरशाही मशीन के पुर्जे कैसे बने रहे।

दीनबन्धु सी० एफ० एण्डरूज़ से पिताजी का जो प्रेममय सम्बन्ध था, वह लोकविदित है। लार्ड मेस्टन पर गुरुकुल का और पिताजी का कुछ ऐसा प्रभाव पड़ा था कि लोग उन्हें गुरुकुल वाला कहने लगे थे।

अठारहवाँ परिच्छेद

गुरुकुल में वायसराय का आगमन

पिताजी के मिस्टर फोर्ड से मिलने के पश्चात् घटनाचक्र बड़े वेग से उलटी ओर चलने लगा। मिस्टर फोर्ड से मिलने के कुछ ही दिन बाद कुछ मित्रों ने बीच में पड़कर पिताजी की संयुक्त प्रान्त के गवर्नर सर जेम्स मेस्टन से मुलाकात करा दी। सर जेम्स मेस्टन ने गुरुकुल देखने की उत्सुकता प्रकट की या गुरुकुल की ओर से दिये हुए निमन्त्रण को स्वीकार किया, यह निश्चयपूर्वक कहना कठिन है। सम्भवत: दोनों ही काम एक ही समय में हो गए। फलत: सर जेम्स मेस्टन धूमधाम से गुरुकुल पधारे। उनका शानदार स्वागत हुआ, जिसके उत्तर में उन्होंने गुरुकुल के प्रति अपना सन्तोष और कुछ दबा हुआ भक्तिभाव प्रकट किया। व्यक्तिगत रूप से पिताजी के प्रति सर जेम्स मेस्टन ने विशेष आदरभाव प्रदर्शित किया।

यह सिलसिला और आगे चला। सर जेम्स ने इशारा दिया कि क्यों न आप वायसराय को भी निमन्त्रित करें, क्योंकि लार्ड चेम्सफोर्ड (उस समय के वायसराय) शिक्षा के बहुत प्रेमी हैं, वह गुरुकुल आना पसन्द करेंगे। यह इशारा पाकर पिताजी ने लार्ड चेम्सफोर्ड को गुरुकुल आने का निमन्त्रण भेजा, तो तत्काल स्वीकार कर लिया गया। तदनुसार एक दिन प्रात:काल हरिद्वार से राजसी महन्तों से सजे हुए हाथियों पर सवार होकर लार्ड चेम्सफोर्ड, लेडी चेम्सफोर्ड, सर जेम्स मेस्टन और अन्य बहुत से छुटभइये अफसर गुरुकुल भूमि में पहुँचे। लार्ड चेम्सफोर्ड और उनकी पार्टी का गुरुकुल की ओर से हार्दिक स्वागत किया गया। संस्था के सभी मुख्य-मुख्य भाग उन्होंने पैदल घूमकर देखे। अन्त में उन्हें पुण्य-भूमि के महाविद्यालय भवन के सामने सेमल के पेड़ के चबूतरे के नीचे संस्कृत में अभिनन्दन-पत्र पेश किया गया। उत्तर में आपने भी गुरुकुल के आदर्शों की और पिताजी के व्यक्तित्व की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की।

वायसराय की गुरुकुल-यात्रा के समय मैं गुरुकुल की शिक्षा समाप्त कर चुका था और वहीं उपाध्याय (शिक्षण) का कार्य करता था। उस समय की दो-तीन घटनाएँ मुझे स्मरण हैं, जो बहुत छोटी-छोटी हैं परन्तु समय और प्रवृत्तियों को सूचित करने वाली अवश्य है। इसलिए उनका उल्लेख कर देता हूँ।

पहली घटना भोजन-भण्डार के चबूतरे पर हुई। चबूतरे के पास पहुँचकर

वायसराय और उनकी पत्नी को सूचना दी गई कि इससे आगे जूता नहीं जा सकता और और साथ ही प्रार्थना की गई कि भण्डार देखने की कृपा कीजिए। क्षण-भर के लिए तो वे दुविधा में पड़ गए कि किन शब्दों में इन्कार करें, क्योंकि नंगे पांव तो चलना उनके लिए असम्भव ही था। इतने में पिताजी के सेवक ने जिसका नाम चिन्ता (सिंह) था, कपड़े के बहुत से जूते लाकर दर्शकों के कदमों के आगे रख दिए और वायसराय से प्रार्थना की गई कि आप चमड़े के जूते उतार कर कपड़े के जूते पहनाने की अनुमति दीजिए। इस पर वायसराय और उनकी पत्नी ने अनुमति दे दी और उन्हीं के सेवकों ने वायसराय और उनकी पार्टी के पैरों में से चमड़े के जूते उतार कर कपड़े के जूते पहना दिए। यह अनुभव उनके लिए इतना नया और अच्छा था कि भण्डार देखने के समय वायसराय और उनकी पत्नी हँसते और कपड़े के जूतों का आनन्द लेते रहे।

दूसरी घटना संस्कृत-क्लब में हुई। ब्रह्मचारियों के संस्कृत-भाषण का प्रदर्शन करने के लिए विशेष सभा की योजना की गई थी, जिसमें ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त सब उपाध्याय भी वायसराय से परिचित होने के लिए उपस्थित थे। परिचय के समय एक बहुत ही मज़ेदार घटना हुई, जो यदि विनोद में परिणत न हो जाती तो बहुत ही भद्दी रहती। जिस समय आचार्य रामदेव जी वायसराय को उपाध्यायों से परिचित करा रहे थे, उस समय हमारे वयोवृद्ध उपाध्याय पं० सूर्यदेव जी, जो पिछली पंक्ति में सबसे पीछे खड़े थे, कमरे के कोने में संकुचित होकर सभा से निकलने की चेष्टा कर रहे थे। पं० सूर्यदेव जी पुराने कर्मकाण्डी थे। हम लोग ताड़ गए कि वह म्लेच्छ जाति के स्पर्श से बचने की चेष्टा कर रहे हैं; परन्तु आचार्य रामदेव जी तो धुन के पक्के थे, वह ऐसी छोटी बातों पर कहाँ दृष्टि देते थे ? वह प्रयत्नपूर्वक रास्ता बनाते हुए कमरे के कोने तक वायसराय को ले गए और झट से पण्डित सूर्यदेव का परिचय करा दिया। शिष्टाचार के अनुसार वायसराय सभी से हाथ मिलाते जा रहे थे। उन्होंने पण्डित सूर्यदेव जी की तरफ भी हाथ बड़ा दिया। पण्डित सूर्यदेव जी दीवार के साथ खड़े थे, अतः और न हट सके, परन्तु मलेच्छ के स्पर्श से बचने के लिए अपने हाथ यथासम्भव पीछे ले गए। क्षण-भर के लिए स्थिति बहुत गम्भीर हो गई। वायसराय का हाथ आगे बढ़ रहा है और पण्डित जी हाथ को पीछे दुबकाए जा रहे हैं, इस विषम परिस्थिति को लार्ड चेम्सफोर्ड ने ताड़ लिया और अंग्रेज़ जाति की स्वभावसिद्ध शान्तचित्तता से उसे हल भी कर दिया। आपने एक दम आगे बढ़कर बड़ी फुर्ती से अपने दोनों हाथों में पण्डित जी का हाथ पकड़ लिया और खूब जोर से हिला कर कहा, 'वेरी ग्लैड टू सी यू' (मैं आपसे मिलकर बहुत खुश हुआ)। पण्डित

जी को काटो तो खून नहीं। इस भ्रष्टाचार के बलात्कार को चुपचाप सहना पड़ा। वायसराय के उस कमरे से निकलते ही पण्डित सूर्यदेव जी शिव-शिव कहते हुए आनन्दाश्रम की ओर भाग गए। वहाँ जाकर कपड़ों सहित गंगा में कई डुबकियाँ लगाईं। अपने शिष्य को भेजकर गोशाला से गोबर मँगाया और म्लेच्छ-सम्पर्क से भ्रष्ट हुए हाथों को दसों बार गोबर से पवित्र किया।

इससे पाठक यह न समझें कि पण्डित सूर्यदेव जी सर्वथा पुराने ढर्रे के पण्डित थे। उनमें कई नये ढंग की बातें भी थीं। आर्ष-साहित्य के प्रौढ़ पण्डित होने के साथ-साथ गतकाफरी के उस्ताद थे। काशी के पण्डितों की प्रशंसा करते हुए यह भी स्वीकार किया करते थे कि स्वामी दयानन्द जी दिव्यदर्शी विद्वान् थे। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि वे बहुत ही भोले थे।

एक ऐसी संस्था में, जिसकी राजद्रोहियों में गिनती थी, वायसराय का आना और उस संस्था की प्रशंसा करना एक बहुत बड़ी राजनीतिक छलाँग थी, जिसने लोगों को आश्चर्य में डाल दिया। आर्यसमाज के भक्तों और गुरुकुल-प्रेमियों का आश्चर्य सन्तोषमिश्रित था। उन्होंने इस घटना का स्वागत किया, क्योंकि इससे एक विकट गुत्थी सुलझ गई और संस्था पर जो काले बादल छा रहे थे, वे कम से कम उस समय उड़ गए।

गरम राजनैतिक श्रेणी के सज्जनों ने वायसराय के गुरुकुलागमन को बहुत सन्देह की दृष्टि से देखा। उन्हें इस घटना से गुरुकुल के स्वतन्त्र और राष्ट्रीय रूप को खतरा प्रतीत होता था। उन सज्जनों में लाला हरदयाल एम० ए० की टिप्पणी विशेष रूप से चुभने वाली थी। आपने एक पत्र में इस आशय का लेख लिखा था कि जब हम ने दिल्ली के कबूतर (श्री० सी० एफ० एण्डरूज़) के बार-बार गुरुकुल आने-जाने का समाचार पढ़ा था, तभी हम समझ गए थे कि गुरुकुल पर कोई मुसीबत आने वाली है। हमारा भय सच्चा सिद्ध हुआ। भारी अभिशाप के समान वायसराय गुरुकुल पहुँच गया।

अपनी-अपनी रुचि और प्रवृत्ति के अनुसार लोगों ने जो सम्मतियाँ बनाईं, उन्हें छोड़ भी दें, तो एक विचारणीय प्रश्न अवश्य रह जाता है। प्रश्न यह है कि दोनों ओर से यह परिवर्तन इतनी शीघ्रता से कैसे हो गया? कहाँ तो गुरुकुल वालों का यह रूख कि किसी सरकारी अफसर से बात नहीं करते थे और कहाँ यह हालत कि अफ़सर पर अफसर चले आ रहे हैं और प्रसन्न होकर चले जाते हैं। उनकी आवभगत होती है। उन्हें आलू के पकौड़ों के साथ तुलसी की चाय पिलाई जाती है और संस्कृत में अभिनन्दन-पत्र पेश किए जाते हैं। इस क्रान्तिकारी मानसिक परिवर्तन का क्या कारण था?

दूसरी ओर सरकार के व्यवहार में भी कुछ कम परिवर्तन नहीं हुआ। कहाँ तो तलाशी की तैयारी हो रही थी और कहाँ सबसे बड़ा राज्य का अधिकारी नि:शंक होकर गुरुकुल में घूम रहा था और प्राय: सभी चीजों की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करता जाता था। ऐसा दृष्टि में आता था कि एक अधिकारी का आगमन उससे बड़े अधिकारी के आगमन की भूमिका-मात्र होता था। एक मसखरे के कथनानुसार बस अब इतनी ही कसर रह गई थी कि महात्मा मुंशीराम इंग्लैण्ड के किंग जार्ज को गुरुकुल आने का निमन्त्रण भेजें। निमन्त्रण स्वीकार तो हो ही जाएगा।

पहले मैं गुरुकुल के मानसिक परिवर्तन के सम्बन्ध में कुछ शब्द कहूँगा। पिताजी की तबीयत में अपरिवर्तनशीलता का अत्यन्त अभाव था। मित्र और शत्रु उनके स्वभाव को भिन्न-भिन्न नामों से पुकारते थे। मित्र उसे महात्मा जी का महात्मापन कहते थे और शत्रु उसे स्वभाव की अस्थिरता का नाम देते थे। वास्तविक बात यह थी कि पिताजी को मानसिक परिवर्तन करने में प्राय: क्षण-भर की भी देर नहीं लगती थी। मुझे अनेक परिस्थितियों में अन्त तक उनके पास रहने का सौभाग्य प्राप्त होता रहा। मैं और मेरे जैसे और साथी आश्चर्यचकित होकर देखते थे कि किसी नई घटना, नई चिट्ठी अथवा नए वक्तव्य का उनके दिल और दिमाग़ पर ऐसा तीव्र असर होता था कि उनके अनुयायी वहीं खड़े रह जाते थे, जहाँ पहले खड़े थे और पाँच ही मिनट में पिताजी केवल खाई नहीं, प्रत्युत विचारों का बहुत बड़ा समुद्र पार करके सैकड़ों मील आगे जा खड़े होते थे। हम लोग देखते थे कि यह क्या हुआ। समझने में देर लगती थी, परन्तु अन्त में बात समझ में आ आती थी, तो कोई किश्ती में बैठकर और कोई स्लीपरों के बेड़े द्वारा सरकते-सरकते उन तक पहुँचने की चेष्टा करते थे।

यह बात आकस्मिक नहीं थी। इसका मूल कारण मनोवैज्ञानिक था। कुछ लोग मस्तिष्क से सोचते और निश्चय करते हैं, उन्हें बुद्धिवादी कहा जाता है। कुछ लोग हृदय से अनुभव करते और अनुभूति के आधार पर ही इतिकर्तव्यता का निश्चय करते हैं, वे भावुकताप्रधान समझे जाते हैं। पिताजी उन व्यक्तियों में से थे, जो निश्चय का अवसर आने से पूर्व और निश्चय हो जाने के पश्चात् मस्तिष्क का पूरा प्रयोग करते हैं; परन्तु निश्चय मस्तिष्क से नहीं करते, अपितु हृदय से करते हैं, जिसका दूसरा नाम अन्तरात्मा है। ऐसे महानुभाव विवेचना के लिए तर्क का प्रयोग करते हैं, परन्तु निश्चय के लिए केवल श्रद्धा को पथप्रदर्शक मानते हैं। साधारण व्यक्ति ऐसे लोगों को पूरी तरह समझने में अपने-आपको सर्वथा असमर्थ पाते हैं। साधारण व्यक्ति सोचता है कि भलेमानस को चिरकाल की विचार-परम्परा के अनुसार ही तो किसी

निश्चय पर पहुँचना चाहिए था; परन्तु उसे क्या मालूम कि वह भलामानस एकदम श्रद्धा के विमान पर आरूढ़ होकर कहीं का कहीं पहुँच गया। पिताजी ने संन्यास लेने के समय यही घोषणा की थी कि "मैंने अपने जीवन के सब निर्णय केवल श्रद्धा के आधार पर किये हैं। इस कारण मैं अपना नाम श्रद्धानन्द रखता हूँ।" पिताजी जिसे 'श्रद्धा' नाम से पुकारते थे, महात्मा गाँधी उसे आन्तरिक शब्द कहते हैं।

यह थोड़ी सी मनोवैज्ञानिक व्याख्या मुझे यह समझाने के लिए करनी पड़ी कि पिताजी के विचार इतने शीघ्र परिवर्तित से क्यों प्रतीत होने लगते थे। गुरुकुल एक स्वतन्त्र संस्था थी, अंग्रेज़ी सरकार से उसे कुछ लेना-देना नहीं था। खुशामद करना स्वभाव के सर्वथा प्रतिकूल बात थी। इन कारणों से वर्षों तक गुरुकुल के सम्बन्ध में पिताजी ने सरकार के प्रति सर्वथा उदासीनता का भाव रखा। न गुरुकुल में सरकार की खुशामद ही सिखाई जाती थी और न राजद्रोह का प्रचार होता था। विशाल हाथी की तरह गुरुकुल अपने निर्दिष्ट मार्ग पर चला जाता था। न दाएँ देखता था, न बाएँ। इसी बीच में देश का वातावरण राजनीतिक दृष्टि से विक्षुब्ध हो गया। संसार-भर के विदेशी शासनों की यह विशेषता होती है कि उनका मन चोर की तरह सन्देहशील हो जाता है। उन दिनों भारत-सरकार भी बेतरह सन्देहशील हो गई थी। पेड़ से पत्ता गिरता था तो सरकार को बम की आहट मालूम होती थी। ऐसे समय में गुरुकुल का उपेक्षाभाव सरकार को गुप्त राजद्रोह के रूप में दिखाई दिया हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पिताजी ने इस परिस्थिति को भाँप लिया। उन्हें प्रतीत हो गया कि मानसिक निर्बलता और झूठी रिपोर्टों के आधार पर सरकार के अधिकारी व्यर्थ में ही गुरुकुल पर सन्देह करने लगे हैं। इससे गुरुकुल को क्षति पहुंच सकती है। गुरुकुल की रक्षा को वह अपना धर्म समझते थे। क्वेटा से लौटकर इतिकर्तव्यता का निश्चय करने में शायद कुछ क्षण ही लगे होंगे। उन्होंने निश्चय कर लिया कि गुरुकुल की रक्षा के लिए अधिकारियों के मन में से निराधार सन्देह की भावना को निकाल फेंकना अत्यन्त आवश्यक है। अधूरापन पिताजी की तबीयत में नहीं था। कोई कार्य वे आधे दिल से नहीं करते थे। जब उन्होंने निश्चय कर लिया कि अधिकारियों के मन में से गुरुकुल के प्रति सन्देह को दूर करना है तो फिर वह बिजनौर के कलेक्टर तक रुकने वाले नहीं थे। कलेक्टर से कमिश्नर, कमिश्नर से गवर्नर और गवर्नर से वायसराय तक पहुँचने में अधिक देर नहीं लगी। परिणाम यह हुआ कि जिस गुरुकुल पर ताले लगाने के लिए वारण्टों पर हस्ताक्षर हो चुके थे, उसे देखने आकर सब अधिकारियों ने उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की।

पिताजी ने जिस भावना से सरकारी अधिकारियों को गुरुकुल में निमन्त्रित किया, उसे जो लोग नहीं समझ सके, उन्होंने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सम्मति प्रकट की।

इसी समस्या का दूसरा पहलू भी है। यह प्रश्न भी पूछा जा सकता है कि सरकार के रुख में इतना शीघ्र परिवर्तन कैसे हो गया। ऐसी कौन सी नई बात हुई, जिसने अधिकारियों को विश्वास दिला दिया कि गुरुकुल राजद्रोही संस्था नहीं है।

सारे घटनाचक्र को बहुत पास से देखने के अनन्तर मैं जिस परिणाम पर पहुँचा हूँ, वह निम्नलिखित है। वह अनुमान पर आश्रित है, इस कारण सम्भव है, ठीक न हो, तो भी मैं उसे इस आशा से अंकित करता हूँ कि वह भी एक सम्भावित समाधान होने से विचारणीय है।

जब पिताजी अफसरों से मिले, तब अफसरों पर उनके व्यक्तित्व का बहुत अनुकूल असर हुआ। उनकी विशाल मूर्ति, खुली तबीयत और आदर्श प्रेम के साथ-साथ विरोध या कड़वेपन के सर्वथा अभाव को अनुभव करके अधिकारियों ने यह मानने में देर न लगाई कि गुरुकुल पर और उसके मुख्याधिष्ठाता पर सन्देह करना व्यर्थ है। इससे बिगड़ी हुई परिस्थिति शीघ्र ही शान्त हो गई, परन्तु सरकार के ऊँचे अधिकारियों ने यहीं तक सन्तोष नहीं किया। मेरी कल्पना है कि उन लोगों ने और आगे बढ़कर गुरुकुल को अपने असर में लेने का संकल्प किया। उन्होंने सोचा होगा कि जो व्यक्ति हमसे इतनी अच्छी तरह मिलता है और जिसके हृदय में अंग्रेज़ जाति के प्रति अणु-मात्र भी कटुता नहीं है, उसे यह समझा लेना क्या कठिन है कि सरकार का सहयोग प्राप्त करने से गुरुकुल को लाभ ही होगा ? सम्भव है, अत्यन्त सद्भावना से प्रेरित होकर ही अधिकारियों ने ऐसा विचार किया हो! परन्तु यह असंदिग्ध है कि एक समय ऐसा अवश्य आ गया था, जब सरकार गुरुकुल को बहुत सी आर्थिक सहायता देने के अतिरिक्त गुरुकुल विश्वविद्यालय को 'चार्टरप्राप्त यूनिवर्सिटी' मानने को तैयार हो गई थी। इस सम्बन्ध में काफी स्पष्टता से एक बहुत ऊँचे अधिकारी ने पिताजी को इशारा भी दिया था। जिस तीव्र उत्सुकता से सरकार ने गुरुकुल की ओर को हाथ बढ़ाया, उसका एक मुख्य कारण सरकार की यह भावना अवश्य प्रतीत होती थी कि गुरुकुल का और सरकार का स्थिर गठजोड़ा हो जाए।

सरकार को इसमें सफलता नहीं हुई। उसका कारण यह था कि जिसे उन्होंने केवल बर्फ की तह समझा था, उसके नीचे कठोर चट्टान थी। पिताजी की सामाजिकता और सरलता के पीछे दृढ़ विश्वास की जो दीवार थी, उसे ऊँचे अधिकारी तब तक नहीं समझ सके, जब तक पिताजी ने सरकार द्वारा

पेश किए हुए, दोनों उपहारों को ग्रहण करने से कोरा इन्कार नहीं कर दिया। बुद्धि और श्रद्धा दोनों के सहारे पर चलने वाले व्यक्तियों के स्वभाव की यह विशेषता होती है कि वे गौण बातों में समझौते के लिए जिस शीघ्रता से तैयार हो जाते हैं, मुख्य सिद्धान्त के विषय में उससे भी अधिक शीघ्रता से समझौता करने से सर्वथा इन्कार कर देते हैं। जो लोग गम्भीर दृष्टि से इसके मनोवैज्ञानिक कारणों पर विचार नहीं करते, वे प्रायः उन व्यक्तियों को 'अस्थिर, परिवर्तनशील, दुर्बोध' आदि शब्दों से विशेषित करने लगते हैं। वस्तुतः बात यह होती है कि सिद्धान्तवादी मनुष्य गौण और मुख्य में भेद करना जानते हैं। गौण में समझौता करने को सदा उद्यत रहते हैं, किन्तु मुख्य सिद्धान्त को आँच नहीं आने देते। पिताजी ने सरकार के हाथ में हाथ तब तक रहने दिया, जब तक उन्होंने यह अनुभव नहीं किया कि गुरुकुल की अन्तरात्मा पर आघात नहीं पहुँच सकता है। ज्यों ही उन्होंने ऐसी सम्भावना को अनुभव किया त्यों ही अपना हाथ खींच लिया, उपहार लेने से इन्कार कर दिया और इस आशंका से कि निरन्तर सम्पर्क से कभी परिस्थिति अधिक न उलझ जाए, निमन्त्रणों का क्रम भी वहीं समाप्त कर दिया।

लार्ड चेम्सफोर्ड के गुरुकुलागमन के साथ अधिकारियों के आगमनों का ताँता समाप्त हो गया। गुरुकुल के अधिकारी सफल हो गए, क्योंकि गुरुकुल पर जो सन्देह के बादल छा रहे थे, वे छिन्न-भिन्न हो गए। सरकारी अधिकारियों को कहाँ तक सफलता मिली, यह कहना कठिन है, क्योंकि सरकार ने अपना लक्ष्य कहाँ तक रखा था, इसका केवल अनुमान लगाया जा सकता है, निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता।

उन्नीसवाँ परिच्छेद

दुःखी दिल की पुरदर्द दास्ताँ

पुराने आर्यसमाजी तो शीर्षक में दिये गए नाम की पुस्तक से परिचित होंगे, किन्तु सम्भवतः नई सन्तति इसे नहीं समझ सकेगी, इस कारण इसका थोड़ा सा परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है। पिताजी ने यह पुस्तक उर्दू में लिखी थी। इसमें उन्होंने उन सब आक्षेपों का युक्ति और प्रमाणों से उत्तर दिया था, जो उनके तब तक के सार्वजनिक जीवन पर किये गए थे। यह तो हुआ पुस्तक का परिचय। अब आप उसके सम्बन्ध में मेरे तत्कालीन संस्मरणों को सुनिये।

जहाँ तक मुझे स्मरण है, हम लोग उन दिनों गुरुकुल की सातवीं श्रेणी में पढ़ते थे। यहाँ एक बात पाठकों के सम्मुख स्पष्ट कर देना चाहता हूँ। पाठकों ने देखा होगा कि इन संस्मरणों में मैंने कहीं भी तारीख नहीं दी, इसका यह कारण नहीं कि प्रायः सभी दी हुई घटनाओं की तारीखें दी नहीं जा सकती थीं। अवश्य दी जा सकती थीं। उसके दो कारण हैं। एक तो यह कि सद्धर्म-प्रचारक की पुरानी फाइल में पिताजी के सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध में सभी मुख्य घटनाएँ, जिनका कुछ भी सार्वजनिक महत्त्व हो, प्रकाशित होती रही है। पिताजी ने अपने निजू जीवन को इतना अधिक सार्वजनिक बना दिया था कि अपने व्यक्तित्व अथवा परिवार से सम्बन्ध रखने वाली बहुत सी चीज़ें भी सद्धर्म-प्रचारक के स्तम्भों में किसी न किसी रूप में आ चुकी हैं। पिताजी की अपनी बहुत सी डायरियाँ भी सुरक्षित हैं। इसके अतिरिक्त स्वयं मैं भी नियमित डायरी रखने का अभ्यासी हूँ। कुछ पाठकों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि जब मैं चौथी श्रेणी में पढ़ता था, तब से अब तक के प्रायः सभी वर्षों की डायरी मेरे पास विद्यमान हैं। प्रतीत होता है कि अन्य अनेक न्यूनताओं के होते हुए भी एक यह विशेषता मैंने पैतृक संस्कारों से प्राप्त की है। डायरी, कागज़ और फाइल रखने का मुझे स्वभावसिद्ध मर्ज़ है। यदि मैं चाहता तो उपर्युक्त सब साधनों से सहायता लेकर इन संस्मरणों में दी गई कम से कम 90 प्रतिशत घटनाओं की तारीखें दे सकता था, परन्तु फिर वे संस्मरण न रहते। वह तो कोरा इतिहास हो जाता, जिससे लिखने का मेरा मंशा नहीं था। मैं तो इन लेखों में अपनी स्मृति-पुस्तक से पन्ने फाड़ कर पाठकों के सम्मुख रख रहा हूँ। चित्र में दृश्य तो आता है, पर तारीख नहीं आती। इसी व्यवस्था के अनुसार मैंने ऊपर लिखा है कि जहाँ तक मुझे स्मरण

है कि हम लोग उन दिनों गुरुकुल की सातवीं श्रेणी में पढ़ते थे।

उन दिनों पिताजी को आधे सिर के दर्द की शिकायत बहुत बढ़ गई थी। नज़ले से भी परेशान थे। दफ्तर में काम करनेवाले लेखकों तथा छोटी श्रेणी के अधिष्ठाताओं से कभी-कभी हमें ऐसे समाचार भी मिलते रहते थे, जिनके हम अधिकारी नहीं समझे जाते थे। ऐसे समाचारों में से एक यह भी था कि प्रधान जी पर अख़बारों में और आर्य प्रतिनिधि सभा में जो आक्षेप किये जा रहे हैं, उनके कारण प्रधान जी बहुत दुःखी हैं और इसीलिए उनकी तबीयत बहुत खराब रहती है। एक बार हमने अद्भुत बात अनुभव की। पिताजी पंजाब आर्य प्रतिनिधि सभा के अधिवेशन में भाग लेने के लिए लाहौर गए। जब वे वहाँ से लौट कर घर आये, तब हमने आश्चर्य से देखा कि उन 6-7 दिनों में उनके चेहरे में कोई बड़ा परिवर्तन आ गया है। जब ध्यान से देखा तो समझ में आया कि सप्ताह-भर में ही उनके सिर और दाढ़ी मूंछ के आधे बाल सफेद हो गए हैं। जनश्रुति ने उस समय हमें बतलाया कि सभा में प्रधान जी पर बहुत आक्षेप किए गए, जिनके उन्होंने बड़ी सफलता से उत्तर दिये, परन्तु उस रात-भर की बैठक का प्रधान जी के मन और शरीर पर इतना असर हुआ कि उनके बाल सफेद हो गए। ये समाचार हमने लाहौर से आए हुए सज्जनों से पूछ-पूछ कर संगृहीत किये थे, क्योंकि पिताजी तो कभी इन विषयों की हम लोगों से चर्चा करते ही नहीं थे।

ऐसे समाचारों ने हमारे हृदयों में तीव्र जिज्ञासा पैदा कर दी। हम दोनों भाई उर्दू पढ़ना जानते थे। गुरुकुल में आने से पहिले एक मौलवी साहब उर्दू और फारसी पढ़ाने के लिए घर पर आया करते थे। मुझे याद है कि फारसी में हम 'सोहराब रुस्तम' की कहानी पढ़ा करते थे। जब गुजराँवाला गुरुकुल जाने के लिए हमारे बिस्तर बाँधे गए, हम उर्दू अच्छी तरह पढ़ने लगे थे। हमें मालूम हुआ कि एक 'हितकारी' नाम का अख़बार आता है, जिसमें पिताजी पर कटाक्षपूर्ण लेख छपे रहते हैं। हमने उसे किसी तरह तलाश करने और पढ़ने का प्रयत्न जारी किया, जिसमें हमें कार्यालय के एक लेखक की सहायता से सफलता मिल गई। वह हमें कुछ घण्टों के लिए हितकारी का पर्चा लाकर दे देता था। उसे लेकर हम दोनों भाई गंगा के किनारे किसी घनी झाड़ी में जा बैठते थे और उस का पारायण करते थे। जिन आर्य महानुभावों के 'हितकारी' में लेख होते थे, वे उस समय पंजाब के आर्य जगत् के प्रमुख और मानी व्यक्ति थे। हितकारी के सम्पादक भी एक प्रसिद्ध वक्ता और प्रचारक थे। इन संस्मरणों में उन में से किसी का नाम भी नहीं लिखूंगा। पंजाब के आर्यसमाजों के इतिहास का वह एक काला अध्याय था, जिस पर समय का पर्दा पड़ चुका है। उसे न उठा कर, केवल उतनी ही स्मृतियों को अङ्कित करूंगा, जो

पिताजी के जीवन से सम्बन्ध रखती हैं।

'हितकारी' को निरन्तर देखने से हम दोनों भाई पंजाब की आर्यसमाजों के आन्तरिक कलह से काफी भली प्रकार परिचित हो गए। कुछ समय पीछे लाहौर से 'प्रकाश' नाम का पत्र निकलने लगा। उसमें 'हितकारी' का उत्तर दिया जाता था। प्रति सप्ताह उसके प्राप्त करने का भी हमने प्रबन्ध कर लिया था। दो-तीन बार गुरुकुल में आर्य-प्रतिनिधि सभा की अन्तरंग सभा के अधिवेशन हुए। उनकी जो टूटी-फूटी रिपोर्टें हम लोगों को मिलती रहीं, उनसे गुरुकुल में विरोधी लोगों के प्रति नाराज़गी का भाव उत्पन्न हो गया था। इस कारण जब ऐसे महानुभाव गुरुकुल में आते थे, तब जो ब्रह्मचारी आर्यसमाज के अन्तरिक झगड़ों से थोड़ा-बहुत परिचित हो चुके थे, वे उन्हें कड़ी आलोचना की दृष्टि से देखा करते थे। वह दृष्टि वस्तुतः उन महानुभावों की मानसिक प्रवृत्तियों की प्रतिक्रियामात्र थी।

उस झगड़े में जो आक्षेप किये जाते थे, वे विचित्र ढंग के थे। जिन लोगों से वे सम्बन्ध रखते थे, उनके लिए यह निश्चित करना कठिन हो जाता था कि उन आक्षेपों की निराधारता पर हँसे या नीचता पर क्रोध करें। आक्षेपों के कुछ नमूने लीजिए। पिताजी के बारे में लिखा था कि उन्होंने त्याग ही क्या किया है, जालन्धर में रहते थे, तो वकालत नहीं चलती थी, अब गुरुकुल में आकर महात्मा बन गए हैं, तो विलायती ढंग की सजी हुई बैठक में बैठते हैं और रेशमी कपड़े पहनते हैं। जालन्धर में वकालत के दिनों में पिताजी का रहन-सहन कैसा था, यह हम लोग जानते थे। हम लोगों की कोठी कितनी बड़ी थी, इसे वे लोग जानते हैं, जिन्होंने उसे कभी देखा है। उसमें रहने के लिए पूरी हवेली थी। बैठक और दफ्तर का हिस्सा अलग था। एक सुन्दर वाटिका थी। सारा सद्धर्म-प्रचारक प्रेस था और इतना बड़ा अस्तबल था, जिसमें दो घोड़ागाड़ियाँ और दो-तीन दूध देने वाले पशु रहते थे। प्रेस को अलग छोड़ दें, तो भी घर में कम से कम एक दर्जन नौकर थे। जिन दिनों समालोचक लोग पिताजी पर और गुरुकुल पर आक्षेपों की भरमार कर रहे थे, उन दिनों सारा गुरुकुल कच्ची दीवार के टिन-शैडों में समाया हुआ था, जिनमें से वह टिन-शैड, जिसमें पिताजी के बैठने व सोने की जगह थी, ऊँचाई में औरों से कम होने के कारण बहुम गर्म था। उसमें जो फर्नीचर पड़ा था, उसका एक बड़ा भाग अब तक दिल्ली में मेरे पास सुरक्षित है। तीन-चार लकड़ी की कुर्सियाँ थीं, जिनका आसन भी लकड़ी का ही था। एक बड़ी दराजों वाली मेज़ थी, जिसका पूर्ववृत्त यह है कि वह तब भी पिताजी के दफ्तर में रहती थी, जब वे वकालत करते थे। गुरुकुल के उस टिन-शैड में और गंगा किनारे वाले बंगले में वही मेज़ शोभायमान रही और

बाद में 'अर्जुन' कार्यालय के ऊपर जिस कमरे में मैं लिखने का कार्य करता था, वहाँ भी वही मेज़ विद्यमान थी। इस बड़ी मेज़ के अतिरिक्त एक छोटी मेज़ और एक कुर्सी भी वकालत के समय की ही, गुरुकुल के उस कमरे में रहती थी, जो पिताजी के बैठने का कमरा था। ये दोनों चीज़ें भी अब तक मेरे कमरे में विद्यमान हैं। जो सज्जन चाहें, कम से कम 60 साल पुरानी वस्तुओं को देखकर अनुमान लगा सकते हैं कि जिन महानुभावों ने उन से सजे हुए कमरे को विलायत का ड्राइंगरूम के नाम से विशेषित करने का दुस्साहस किया था, उनकी आँखों को पक्षपात ने कितना अन्धा कर दिया था। इसी प्रकार की आलोचनाओं से 'हितकारी' अख़बार के कालम भरे होते थे। महाशय कृष्ण जी और उनके अभिन्न मित्र स्व० पण्डित विश्वम्भरनाथ जी उन्हीं दिनों कालेज की शिक्षा समाप्त करके आर्यसमाज के कार्यक्षेत्र में आए थे, उन्हें विरोधी पार्टी के पिताजी पर किए गए ये आक्षेप अन्याययुक्त प्रतीत हुए। विरोधियों के आक्षेपों का उत्तर देने के लिए महाशय कृष्ण जी ने कुछ मित्रों के सहयोग से 'साप्ताहिक प्रकाश' का प्रकाशन आरम्भ किया। पंजाब की आर्य-जनता में पिताजी के प्रति गहरी श्रद्धा का भाव विद्यमान था। आर्य-जनता 'हितकारी' में किए गए आक्षेपों का उत्तर सुनना चाहती थी। पिताजी के सम्पादकत्व में निकलने वाला 'सद्धर्म-प्रचारक' अनेक आर्यसमाजों में धर्म-पुस्तक की तरह पढ़ा जाता था, परन्तु पिताजी की यह दृढ प्रतिज्ञा थी कि जहाँ तक हो सकेगा, 'सद्धर्म-प्रचारक' के स्तम्भों में विरोधियों के गन्दे आक्षेपों की चर्चा नहीं आने पाएगी। विरोधियों के आक्रमणों का मुख्य उद्देश्य यह सिद्ध करना प्रतीत होता था कि पिताजी महात्मा नहीं है, इस कारण उन्हें महात्मा मुन्शीराम के नाम से न पुकारा जाए। इस बात को सिद्ध करने के लिए एक सेशन जज साहब ने साप्ताहिक 'हितकारी' में कई मास तक एक लेखमाला लिखी। 'साप्ताहिक प्रकाश' में इन आक्षेपों के थोड़े-बहुत उत्तर दिए जाते थे, परन्तु विरोधियों की ओर से निरन्तर यही ललकार सुनायी जाती थी यदि हमारे किए हुए आक्षेप असत्य हैं, तो महात्मा मुन्शीराम उनका जवाब क्यों नहीं देते। आक्षेप सभी प्रकार के थे—रुपये का गबन, हिसाब की गलती, कुर्बानी का ढोंग और न जाने इसी तरह के कितने विषैले अभियोग थे, जिन्हें सिद्ध करने के लिए विरोधी लोग वर्षों तक साप्ताहिक गोलाबारी करते रहे, परन्तु पिताजी ने उनका उत्तर देना आवश्यक नहीं समझा।

अन्त में ऐसा समय आ गया, जब आक्षेपों की उपेक्षा करनी कठिन हो गई। विरोधियों की निरन्तर ललकार से भक्तों के दिल भी दहलने लगे और वे पिताजी को प्रेरित करने लगे कि विरोधियों को मुँहतोड़ जवाब दिया जाए। इधर विरोधियों की इस भारी बाण-वर्षा का पिताजी के स्वास्थ्य पर बहुत

बुरा असर पड़ रहा था। अन्दर ही अन्दर घुलने वाले मानसिक विक्षोभ के कारण उनकी वही अवस्था हो रही थी, जिस का कालिदास ने निम्नलिखित पदों में वर्णन किया है—

राजा स्वतेजोभिरदह्यतान्तर्भोगीव मन्त्रौषधिरुद्धवीर्यः।

अपनी इच्छानुसार, अपने ऊपर डाले हुए प्रतिबन्ध के कारण अन्दर भरा हुआ क्षोभ प्रतिदिन असह्य होता जा रहा था, जिसका परिणाम यह हुआ कि एक दिन पिताजी ने निश्चय कर लिया कि संसार के सामने सत्य का प्रकाश किया जाए। इस संकल्प को लेकर पिताजी ने गंगा किनारे वाले बंगले से अपना बोरिया-बँधना उठाकर पक्की धर्मशाला में 15 दिन के लिए डेरा जमाया और उन दिनों में लगभग 600 पृष्ठों की वह किताब लिखी, जिसका नाम इस अध्याय के आरम्भ में दिया गया है।

बीसवाँ परिच्छेद

समाधान

'दु:खी दिल की पुरदर्द दास्ताँ' में पिताजी ने न केवल उन सब आक्षेपों का विस्तृत उत्तर दिया था, जो विरोधियों की ओर से उनके सार्वजनिक जीवन पर किए जाते थे, आर्यसमाज के क्षेत्र में उनके जो-जो विरोधी हुए, उनके विरोध के कारणों पर भी पूरा प्रकाश डाला था। उनकी दास्ताँ सचमुच दिल को बहुत दु:खी करने वाली है। सारी पुस्तक को पढ़कर मन पर यह असर होता है कि पंजाब के आर्यसमाजों के कार्यक्षेत्र में ऊँचे पदों पर काम करने वाले प्राय: सभी प्रमुख व्यक्ति एक-एक करके पिताजी के विरोधी बनकर समालोचकों में शामिल होते गए। इस दशा को देखकर एक उदासीन व्यक्ति के मन में भी यह प्रश्न पैदा होने लगता है कि इसमें क्या सब दोष औरों का ही था ? पाठक सोचने लगता है कि जिस व्यक्ति के इतने विरोधी हो गए कि जो आज साथी बना, कल वही समालोचक बन गया, क्या इसमें सब दोष अन्यों का ही था ? उसका नहीं था ?

इस पुस्तक के पढ़ने से एक और प्रश्न भी पाठक के मन में उत्पन्न हो सकता है। वह यह है कि इतने बड़े सार्वजनिक कार्यकर्ता ने अपने विरोधियों की आलोचना की इतनी परवाह क्यों की कि उनका उत्तर इतने दु:खी दिल से दिया और हरेक छोटे से छोटे आक्षेप का इतना विस्तृत उत्तर दिया। वह उनकी उपेक्षा कर सकते थे, कम से कम सर्वथा शान्तभाव में उतर दे सकते थे।

ये दोनों प्रश्न पिताजी के जीवन काल में भी पूछे जाते थे। प्राय: ज्योतिषी लोग समृद्धि व्यक्तियों का हाथ देख कर कह दिया करते हैं कि तुम्हारी हस्तरेखा से मालूम होता है कि तुम जिसे दूध पिलाओगे, वही तुम्हें डसने को आएगा। सब लोगों के सम्बन्ध में यह बात ठीक हो या न हो, पर पिताजी के सम्बन्ध में तो लगभग अक्षरश: ठीक सिद्ध होती रहो। सार्वजनिक जीवन में उनके सब साथी कुछ समय के पश्चात् न केवल पिछड़ जाते थे, बल्कि उनके कठोर विरोधी बन जाते थे। मैंने अत्यन्त समीप से जो कुछ देखा और अनुभव किया, उसके आधार पर इस प्रश्न का उत्तर देने का साहस करता हूँ। जैसे मैं पहले लिख आया हूँ, पिताजी अपने निजू जीवन में और सार्वजनिक जीवन में इतिकर्तव्यता का निश्चय करते हुए युक्तियों या परिस्थितियों पर कभी विचार नहीं करते थे। स्नातक बनने के पश्चात् अनेक बार मैं उनके परामर्श

में (और वह परामर्श भी लगभग प्रत्यक्ष-चिन्तन ही होता था) शामिल होता रहा। किसी बड़े कदम के उठाने के विषय में विचार करते हुए मैंने कभी उन्हें यह सोचते हुए नहीं पाया कि इस कार्य के लि धन कहाँ से आएगा? पुराने साथी नाराज तो नहीं हो जाऐंगे? नये साथी कहाँ से आयेंगे? और जो बाधाएँ आयेंगी, उनका निवारण कैसे होगा? उनका मन कुछ ऐसे ढंग का बना हुआ था कि जिसे अक्लमन्द लोग सांसारिक दूरदर्शिता या दुनियादारी के नाम से पुकारते हैं, वह कभी उनके पास नहीं फटकती थी। जब कोई बड़ा कदम उठाते थे, तब अन्तरंग लोगों में भी यही घोषणा किया करते थे, "बस, मैंने निश्चय कर लिया।" यदि कोई यह पूछता कि कल शाम तक तो अभी विचार ही हो रहा था, तो वह उत्तर देते, "वह मेरी निर्बलता थी। आज प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में मेरी अन्तरात्मा ने निश्चित रूप से कह दिया कि मुझे यह काम करना चाहिए।" फिर कोई सलाहकार यह पूछने का साहस कर बैठता था—"परन्तु यह कार्य होगा कैसे?" इस प्रश्न का उत्तर पिताजी का निश्चित ही था। उत्तर था—"अब तक मेरे सब कार्य सहस्रबाहु के भरोसे पर हुए हैं, यह कार्य भी वैसे ही होगा।"

उपर्युक्त घोषणा के पश्चात् और कभी-कभी उससे पहिले ही प्रातःकाल के तीन-चार घण्टों में नया कदम बहुत दूर तक उठ चुका होता था। दृष्टान्त के लिए कांग्रेस की कार्यसमिति या हिन्दू महासभा अथवा शुद्धिसभा से त्यागपत्र देने जैसे महान् प्रश्न को ही लीजिए। जिस दिन प्रातःकाल ब्राह्ममुहूर्त में वह अन्दर के शब्द को सुनकर यह निश्चय कर लेते थे कि अब मुझे त्यागपत्र दे देना है, उस दिन प्रातःकाल सूर्य निकलने से पहिले उनका लिखा हुआ विस्तृत त्यागपत्र, उसकी आफिस-कापी, उनके स्पष्टीकरण के लिए एक लम्बा वक्तव्यरूपी तार, यह सब कुछ लिखा हुआ मेज़ पर पड़ा होता था। सेवक के आते ही त्यागपत्र की चिट्ठी बन्द होकर डाक के डिब्बे में पड़ जाती थी। तार तारघर पहुँच जाता था, और उस सभा के सम्बन्ध में जितनी फाइल होती थी, उसे पूरा करके फाइलों की अलमारी में बन्द कर देने के लिए पण्डित धर्मपाल जी विद्यालङ्कार के सुपुर्द हो जाती थी। पण्डित धर्मपाल जी विद्यालङ्कार वर्षों तक स्वामी जी के निजू मन्त्री का कार्य करते रहे। जब हम लोग स्वामी जी के पास पहुँचते थे, तब हमें मालूम होता था कि जो मामला अटका हुआ था, उसकी अटक न केवल दूर हो गई है, प्रत्युत वह कोसों आगे पहुँच चुका है।

इस प्रकृति को लेकर पिताजी ने सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किया था। इन मनोवैज्ञानिक विशेषताओं के साथ कुछ भगवान् की दी हुई शारीरिक विशेषताएँ भी थीं। हमारे दादा जी सिपाही थे। उनका पूरा ठाठ सिपाहियाना

था। वह पिताजी से भी दो अंगुल ऊँचे और फैलाव में अधिक विशालकाय थे। पिताजी ने शारीरिक सम्पत्ति उनसे विरसे में पाई थी। जिस समय पीला दुपट्टा और संन्यास ले लेने के पश्चात् भगवाँ कपड़ा लेकर और हाथ में लम्बा दण्ड पकड़ कर वह भीड़ में चलते थे, उस समय उनके कन्धे अन्य लोगों के सिरों से ऊँचे दिखाई देते थे और सिर कन्धों से भी ऊँचा। यदि शारीरिक सम्पत्ति किसी को जन्मसिद्ध नेता बना सकती थी, तो वह पिताजी थे। उसके साथ ही संकटकाल में जनता यह चाहती है कि उसको एकदम रास्ता दिखाया जाए। उसका खून इतना उबल चुका होता है कि न परामर्श की गुँजाइश होती है और न शाब्दिक आश्वासन की। उस समय पिताजी वस्तुतः क्षणभर में इतिकर्तव्यता का निश्चय कर लेते थे और निश्चय करने के साथ ही लाठी उठाकर बड़े से बड़े संकट से जूझने के लिए चल पड़ते थे। उनकी इसी विशेषता से प्रभावित होकर कई विषयों पर गहरा मतभेद रहते हुए भी पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने अपने आत्मचरित्र में पिताजी की वीरता की प्रशंसा की है। इन झाँकियों में ऐसे कई दृष्टान्त अङ्कित होंगे, जिन से मेरा उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो सके। यहाँ केवल एक दृष्टान्त देकर आगे चलता हूँ।

पिताजी संन्यास ले चुके थे। गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता और आचार्यपद को अन्य कार्यकर्त्ताओं ने सँभाल लिया था। गुरुकुल का उत्सव हो रहा था। उत्सव के निमित्त आकर पिताजी उसी प्रसिद्ध गंगा तट वाले बंगले में ठहरे हुए थे। उत्सव का सबसे मुख्य अपील-सम्बन्धी व्याख्यान हो रहा था। इतने में दर्शकों के अनिवास-स्थान की ओर से उठता हुआ धुआँ दिखाई दिया। क्षण-भर में शोर मच गया—'आग लग गई, आग लग गई!' पण्डाल एकदम खाली हो गया। सब लोग कैम्प की ओर भागे। वहाँ जाकर देखा तो फूस के छप्पर बारूद के ढेर की तरह धू-धू करके जल रहे थे। दर्शक लोग पागलों की तरह चारों ओर भागने और शोर मचाने लगे। बीसियों बच्चे कैम्प में सोये पड़े थे। इस भयानक आग में घुसकर कौन उनको बचाए ? यह नहीं सूझता था कि फूस में लगी आग बुझेगी कैसे ? कुछ देर तक आर्तनाद और हाहाकार के सिवा कुछ सुनाई नहीं देता था। यह मेरी कानों सुनी बात है कि गुरुकुल के कई अधिकारी पण्डाल के पास खड़े होकर दृश्य देख रहे थे और कह रहे थे कि अब क्या किया जा सकता है। हम तो पहले ही कहते थे कि फूस के छप्पर नहीं बनाने चाहिए।

सहसा ऐसी निराशाजनक परिस्थिति को भेदता हुआ 'चलो, चलो, स्वामी जी आ गए' का शब्द भीड़ में सुनाई दिया और साथ ही बंगले की ओर से तेज़ी से आते हुए स्वामी जी का सिर और कन्धे जनता के मस्तकों से ऊपर

दृष्टिगोचर हुए। स्वामी जी सीधे मेहता गेट पर पहुँचे और शायद आधा मिनट तक सारी स्थिति को निरीक्षण किया और फिर एकदम धाराप्रवाह की तरह आज्ञाएँ निकलने लगीं—

"मिट्ठनलाल जी, आप भाग कर जाइये, गोशाला और वाटिका में जितने फावड़े और टोकरियाँ मिले, सब लिवा लाइये।"

"चिरञ्जीलाल जी, आप वस्तु-भण्डार में से जितने घड़े और बाल्टियाँ मिले, सब लिवा लाइये।"

"दोनों के साथ केवल 20-20 आदमी जावें, अधिक नहीं। शेष सब मेरे साथ आओ", कहकर स्वामीजी आप आग के पास जा पहुँचे और दर्शकों को स्वयंसेवक दलों के रूप में विभक्त कर दिया। एक दल को आज्ञा दी कि "हाथों में या कपड़ों में भर कर जैसी भी हो, मिट्टी और रेत ले लेकर आग पर डालो।" दूसरे दल को आज्ञा दी कि "जिन छप्परों में आग नहीं लगी, उनका सामान निकाल कर बहुत दूरी पर रख दो और उन छप्परों को गिरा दो, और यथाशक्ति घसीट कर आग से दूर ले जाओ।" इतने में फावड़े, टोकरियाँ, बाल्टियाँ, घड़े सब चीज़ें आ पहुँची। एक दल मिट्टी खोदने लगा, दूसरा उसे टोकरियों मे भरकर आग पर डालने लगा, तीसरे दल ने कुएँ तक लम्बी लाइन लगा दी, जहाँ से घड़ों और बाल्टियों द्वारा पानी आने लगा। आर्तनाद बन्द हो गया। जहाँ अव्यवस्था थी, वहाँ व्यवस्था हो गई और लगभग आध घण्टे-भर में आग सर्वथा शान्त हो गई। यह दृश्य मेरे हृदय पर बहुत गहरा अङ्कित है। पैदाइशी नेता ही ऐसे समय अव्यवस्था में से व्यवस्था पैदा कर सकता है।

पिताजी की इन विशेषताओं की ओर पाठकों का ध्यान आकृष्ट करके मैं यह बतलाना चाहता हूँ कि सार्वजनिक जीवन में उनके साथियों में से इतने अधिक समालोचक क्यों बने? एक और विशेषता, जिसकी ओर निर्देश करना अत्यन्त आवश्यक है, उनकी स्पष्टवादिता थी। वह इतनी प्रकट और निर्विवाद थी कि उनके भक्त और विरोधी दोनों ही उसे स्वीकार करते थे। भक्त उसे उनका सबसे बड़ा गुण मानते थे और विरोधी सबसे बड़ा दोष। सार्वजनिक जीवन में किसी बात को या किसी चीज़ को वह गुप्त नहीं मानते थे। जिसके विषय में जो राय रखते थे, वह न केवल सब लोगों के सामने बिल्कुल निःसंकोच भाव से कह देते थे, बल्कि अगर दिल में आ गया तो सद्धर्म-प्रचारक में भी लिख देते थे। यह उनके स्वभाव का एक आवश्यक टुकड़ा था।

यहाँ मैंने पिताजी के स्वभाव की जो विशेषताएँ लिखी हैं, उनके लिए जानबूझकर विशेषता शब्द का ही प्रयोग किया है। वे गुण थे या दोष, इस

विषय में मैंने कोई सम्मति नहीं दी। उनके जीवनकाल में इस विषय में सब लोग एकमत नहीं हो सके और न कभी हो सकेंगे। किसी सुन्दर चित्र, उत्कृष्ट काव्य और महान् पुरुष की विशेषताएँ गुण हैं या दोष, इस विषय में एकमत हो भी नहीं सकता। यदि ऐसे पदार्थों के गुण-दोष के सम्बन्ध में एकमत हो जाए, तो उनकी असाधारणता जाती रहे। तब तो वह साधारण पदार्थ बन जाए।

अब आप उपर्युक्त विशेषताओं को ध्यान में रखकर विचार करें। तो आपको बहुत आसानी से प्रतीत हो जाएगा कि सार्वजनिक जीवन में पिताजी के इतने विरोधी क्यों बने। वह सार्वजनिक जीवन की जिस दिशा में चले जाते, वहाँ वह अपने नैसर्गिक गुणों से बहुत शीघ्र अगली पंक्ति में आ जाते थे और सबसे ऊँचे दिखाई देने लगते थे। जैसे उन्होंने अपने आत्मचरित्र में अपने बचपन और यौवन के सब दोष खुली पुस्तक की तरह खोलकर रख दिये हैं, उसी प्रकार वह सार्वजनिक जीवन में अन्य कार्यकर्ताओं के दोषों को भी निःसंकोच भाव से कह डालते थे। उनके सहसा ऊँचे उठ जाने से सहयोगियों में जो नैसर्गिक ईर्ष्या उत्पन्न होती थी, वह उनकी स्पष्टवादिता के कारण भड़क उठती थी और आज जो सहयोगी मालूम पड़ता था, वह कल कड़ा आलोचक बन जाता था। किसी विशेष परिस्थिति के आने पर जब पिताजी कोई नई छलांग मार जाते थे तो उनके पुराने साथी खाई के इसी ओर मुँह ताकते रह जाते थे और पीछे रहने के समर्थन में प्रायः पिताजी के कार्यों की आलोचना किया करते थे।

इस विवेचना के अन्त में एक बात और लिख देनी आवश्यक है। वह यह कि पिताजी आलोचनाओं और आक्षेपों के सम्बन्ध में बहुत भावुक थे। कुछ लोग, जो सार्वजनिक जीवन में प्रवेश करते हुए अपनी अनुभवशीलता को पीछे छोड़ जाते हैं, वे विरोधी आलोचनाओं से अधिक प्रभावित नहीं होते। पिताजी का हृदय इस दृष्टि से बहुत नरम और अनुभवशील था। मैंने उन्हें कई बार दूसरे का दुःख देखकर आँसू बहाते देखा है। प्रायः कोई वृत्तान्त सुनाते हुए या पढ़ते हुए मार्मिक स्थल के आने पर उनकी आँखें आँसुओं से भर जाती थीं। जब कभी वह अपनी आलोचना सुनते थे, तो कभी-कभी रातों नहीं सो सकते थे। सोचते रहते थे कि ये लोग ऐसे नासमझ क्यों है ? ऐसे ही अवसरों पर प्रायः उन्हें रोग आ घेरता था, जो कभी-कभी महीनों तक व्याकुल करता था। जिस रात आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब में विरोधियों पर उन्होंने पूर्ण विजय-लाभ किया, उस रात-भर में सिर और दाढ़ी के लगभग आधे बालों के सफेद हो जाने की बात मैं लिख आया हूँ। आधे सिर का दर्द ऐसे ही मानसिक धक्कों का फल था। हम लोग, जो उनके बहुत समीप

रहते थे, वे हृदय से चाहते थे कि वे इतने अनुभवशील न होते। उनका मानसिक दुःख देखकर हम लोगों को बहुत दुःख होता था और वे तो दुःखी रहते ही थे।

कहीं पाठक यह न समझ लें कि जब पिताजी आलोचनाओं से इतने अधिक परेशान हो जाते थे, तो फिर काम कैसे करते होंगे? यही तो एक मनोवैज्ञानिक चमत्कार था। जैसे कीचड़ में से कमल निकल आता है, ऐसे ही उनके दुःख या उदासीनता की लहरों में से कोई न कोई नया रत्न निकल आता था। गुरुकुल की योजना, सर्वमेधयज्ञ, संन्यास और सत्याग्रह-प्रवेश आदि सब जीवन की क्रान्तिकारिणी घटनाएँ ऐसे ही मानसिक मन्थन का परिणाम थीं। इनमें से कुछ की चर्चा पहिले हो चुकी है, शेष की चर्चा इन संस्मरणों में आगे चलकर करूँगा।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

सर्वमेधयज्ञ

अभी हम दोनों स्नातक नहीं बने थे, अगले वर्ष बनने वाले थे। एक दिन प्रातःकाल लगभग 4 बजे हम दोनों को सोते से जगा कर कहा गया कि प्रधान जी ने आप को बुलाया है, बंगले पर चलिए। ऐसे असाधारण समय में बुलाए जाने का कारण हमारी समझ में नहीं आया। पूछने पर सेवक ने उत्तर दिया—"मुझे कुछ मालूम नहीं; हाँ, इतनी बात अवश्य है कि आज रात-भर वह सोए नहीं। पहले टहलते रहे, फिर कुछ लिखते रहे।"

जब हम दोनों बंगले पर पहुँचे तो पिताजी को कमरे में टहलते पाया। यह उनकी विचार की मुद्रा थी। गम्भीर विचार के समय वह पीछे की ओर दोनों हाथ मिलाकर टहला करते थे। हमारे पहुँचने पर वे कुर्सी पर बैठ गए और अत्यन्त गम्भीरता से दराज में से फुलस्केप के आकार का एक लिखा हुआ कागज निकाल कर हमारे सामने रखते हुए कहा—"इसे पढ़ लो, और यदि तुम इससे सहमत हो तो इस बात पर हस्ताक्षर कर दो।" उस कागज़ में जो कुछ लिखा था, उसका अभिप्राय यह था—

'मैंने अपनी शक्ति के अनुसार अपने जीवन में वैदिक धर्म की सेवा की है। ऋषि दयानन्द की आज्ञा को शिरोधार्य करके वैदिक धर्म के पुनरुद्धार और आर्य-जाति के उत्थान के लिए गुरुकुल का संचालन करता रहा हूँ। मैंने गुरुकुल के लिए अपनी सब शक्ति लगा दी है, परन्तु अब मुझे अनुभव हो रहा है कि मेरा अब तक का प्रयत्न अधूरा था, मैंने अभी गुरुकुल के लिए सब कुछ नहीं दिया। जालन्धर में मेरा जो मकान है, वह पुश्तैनी नहीं है, मैंने अपनी कमाई से बनाया है, उस में अभी तक मेरी ममता विद्यमान है। मैं उसे भी मिटा देना चाहता हूँ। इस कारण मैं इस दान-पत्र द्वारा वह मकान गुरुकुल काँगड़ी के लिए आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को समर्पित करता हूँ।'

जब हम उस दान-पत्र को पढ़ चुके तो पिताजी ने कहा—"यदि तुम्हें इसमें कोई आपत्ति न हो तो वैसा लिखकर दोनों भाई नीचे अपने हस्ताक्षर कर दो, ताकि सभा वाले कोई झगड़ा नहीं मचायें।"

उस दान-पत्र पर हम दोनों के हस्ताक्षरों का महत्त्व यह था कि इस से कुछ मास पूर्व पिताजी एक वसीयतनामा लिख चुके थे, जिसमें उन्होंने यह लिखा था कि कोठी को बेचकर जो दाम उठे, वे दोनों भाइयों को आधे-आधे बाँट दिये जाएं। अनुमान यह था कि कोठी बीस हजार में बिकेगी।

वसीयतनामे में हरिश्चन्द्रजी को 10,000/- से प्रेस और पत्र चलाने का आदेश और मुझे विलायत जाकर बैरिस्टरी पास करने का आदेश दिया गया। इस नये दान-पत्र से वह वसीयतनामा रद्द होता था।

हम दोनों ने उसे अर्पणनामे को पढ़ लिया और चुपचाप उसके नीचे स्वीकृतिसूचक हस्ताक्षर कर दिए। तब पिताजी ने हमसे कहा कि यह तो तुम्हें मालूम ही होगा कि यह कोठी मेरी अन्तिम भौतिक सम्पत्ति थी। शेष प्रेस आदि सब वस्तुएँ मैं पहले ही दे चुका हूँ। इस कोठी के देने के पश्चात् तुम्हारे लिए कोई वस्तु नहीं बचेगी। इस पर तुम आपत्ति करना चाहो, तो कर सकते हो। जहाँ तक मुझे याद है, शब्दों द्वारा हम दोनों भाई पिताजी के कथन का कुछ भी उत्तर नहीं दे सके। केवल इतना ही सूचित किया कि हमें सब मालूम है, हमें कोई आपत्ति नहीं और यह सूचना भी हमने शब्दों से नहीं, सिर के इशारे से ही दी थी। इसके पश्चात् हम दोनों आश्रम की ओर चले गए और पिताजी फिर बंगले में टहलने लगे।

हम दोनों यह समझ गए थे कि जब तक स्वयं पिताजी दान की घोषणा न करें तब तक दान का संकल्प गोपनीय है। उन दिनों गुरुकुल का उत्सव हो रहा था। उत्सव के निमित्त से हमारे बहुत से सम्बन्धी आये हुए थे। बड़ी बहन वहीं थीं और सम्भवत: तायीजी भी थीं। हमने दिन-भर उनसे भी दान-पत्र की कोई बात न की। दोपहर बाद गुरुकुल के लिए अपील के सम्बन्ध में पिताजी का भाषण था। उन दिनों अपील का समय उत्सव में सबसे अधिक महत्त्व रखता था। भीड़ और उत्साह की दृष्टि से, वह अवसर अपूर्व समझा जाता था। उस वर्ष अपील से पूर्व शायद आगरे के ठाकुर नत्थासिंह ने 'मथुरा में एक बत्ती धीमी सी जल रही थी' वाला भजन ऐसी सुन्दरता से गाया था कि उसके प्रत्येक पद पर करतल ध्वनि-सुनाई दी थी। भजन के बाद पूर्ण सन्नाटे में अपील के लिए खड़े होकर पिताजी ने निम्नलिखित आशय का एक भाषण आरम्भ किया—(व्याख्यान का यह आशय मैं स्मृति के भरोसे पर और वह भी बहुत संक्षेप से लिख रहा हूँ)।

'कुछ समय हुआ, गुरुकुल के लिए धन-संग्रह करने के निमित्त मैं दिल्ली गया। वहाँ एक मण्डली को साथ लेकर मैं शहर के सबसे बड़े रईस के घर चन्दा मांगने पहुँचा। उस रईस को जब गुरुकुल की शिक्षा-मण्डली के आने का समाचार मिला तो वह घर के अन्दर चला गया और कहला भेजा कि राय साहब टट्टी गए हैं। हम बहुत देर तक वहाँ बैठे रहे, पर राय साहब घर से बाहर न आये। यह बात मुझे बहुत बुरी मालूम हुई, और मैं असन्तुष्ट होकर मण्डली को लेकर वहाँ से चला आया। डेरे पर आकर मैंने अपनी अन्तरात्मा से पूछा कि ऐसा क्यों हुआ? मेरे अन्दर क्या कमी है,

जिसके कारण वह धनी आदमी मुझसे बचने की चेष्टा कर रहा था और इसका भी क्या कारण है कि उसके बाहर न आने पर मैंने बुरा माना ? मेरी आत्मा ने उत्तर दिया कि इसका कारण यह है कि तूने अभी अपने-आप को सर्वतोभाव से धर्म की सेवा में अर्पण नहीं किया और तेरे मन में बची हुई सम्पत्ति के कारण अहंकार है। उसी समय मैंने निश्चय किया कि मैं अहंकार की जड़, इस थोड़ी सी सम्पत्ति को भी गुरुकुल को अर्पण कर दूँगा। और तब वस्तुतः धर्म की सेवा के योग्य हो सकूँगा।' इसके पश्चात् पिताजी ने अर्पणनामा पढ़कर सुना दिया।

जो बात मैंने इन थोड़ी सी पंक्तियों में लिखी है , वह वस्तुतः लगभग डेढ़ घण्टे के व्याख्यान में कही गई थी। जो नर-नारी उस दिन अपील में उपस्थित थे, उन्हें उस समय का दृश्य कभी नहीं भूल सकता। प्रारम्भ से ही श्रोता समझ गए थे कि आज की अपील में कोई असाधारण बात है। पिताजी में भावुकता का अंश बहुत अधिक था। उनके भाव चेहरे के चित्रपट पर तत्काल प्रतिबिम्बित हो जाते थे, हृदय की प्रत्येक भावना आँख, नाक और होंठों पर स्पष्टता से झलकने लगती थी और स्वर भी तदनुसार ही प्रभावित हो जाता था। जिस समय बादल के समान गरजते हुए स्वर से उन्होंने कहा कि मेरी अन्तरात्मा ने उत्तर दिया कि इसका कारण वह अहङ्कार है, जो थोड़ी-सी बची हुई सम्पत्ति के कारण उत्पन्न होता है तो प्रायः सब श्रोता समझ गए कि इसके पश्चात् कोई सनसनी पूर्ण घोषणा होने वाली है, यज्ञकुण्ड में कोई बड़ी आहुति पड़ने वाली है। वक्ता के स्वर, अवसर और सम्भावित घोषणा का श्रोताओं पर कुछ ऐसा असर पड़ा कि उनकी आँखों में आंसू आ गए, जो वक्ता के प्रत्येक वाक्य के साथ बढ़ते गए, आँखों से बहने लगे। प्लेटफार्म पर अजीब दृश्य हो रहा था। आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान लाला रामकृष्ण जी, जो शायद संसार के कुछ एक चुने हुए उन व्यक्तियों में से होंगे, जिनके बारे में भावुक होने का सन्देह भी नहीं किया जा सकता था, वे रो रहे थे। 'प्रकाश' के सम्पादक महाशय कृष्ण जी रूमाल से आंखें पोंछ रहे थे। भक्तराज लाला लब्भूराम नैयर आवाज से रो रहे थे। ये तीन नाम मैंने नमूने के तौर पर पेश कर दिये हैं। अपनी-अपनी प्रकृति के अनुसार प्रायः सभी श्रोता द्रवित हो गए थे। जनता का यह हाल था कि उसे ताली बजाने या भाव व्यक्त करने तक का अवसर नहीं मिला, जब तक पिताजी दान-पत्र पढ़कर बैठ नहीं गए। व्याख्यान समाप्त होने पर जनता ने दिल खोलकर तालियों और जयकारों के साथ अपना हार्दिक भाव प्रकट किया।

इस प्रसंग में पिताजी की वक्तृत्व-शैली के सम्बन्ध में कुछ शब्द कह देना अप्रासंगिक न होगा। वे भारतवर्ष में अपने समय के कुछ एक ऐसे वक्ताओं

में से थे, जिन्हें जनता पर प्रभाव उत्पन्न करने वाला सर्वमान्य वक्ता कहा जा सकता है। वर्षों तक लाहौर के बच्छो वाली आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर उनका व्याख्यान उत्सव का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण और लोकप्रिय भाग माना जाता था। गुरुकुल के उत्सव पर उनके व्याख्यान के समय अधिक से अधिक भीड़ रहती थी, और अधिक से अधिक सन्नाटा रहता था। संन्यास लेने के पश्चात् जब वह राजनीति में प्रविष्ट होकर सत्याग्रह आन्दोलन के अगुआ बने, तब सब बड़ी सार्वजनिक सभाओं में उनका बोलना आवश्यक था। जामा मस्जिद के मिम्बर पर हो या पीपल पार्क की व्याख्यान-वेदी पर, हिन्दू-मुसलमानों की सम्मिलित भीड़ उन्हें सुनने के लिए लालायित रहती थी। इससे यह तो स्पष्ट है कि वह वैसे वक्ता थे, जिन्हें अंग्रेज़ी में 'मास ऑरेटर' कहते हैं।

इस सम्बन्ध में समालोचनात्मक दृष्टि से देखने वालों को आश्चर्य में डालने वाली बात यह थी कि जब वक्तृत्व के साधारण नपैने से उनकी भाषण-शैली को नापा जाता था, तब उसकी सफलता का रहस्य समझना कठिन हो जाता था। पिताजी की भाषण-शैली की आलोचना करना मेरे लिए छोटे मुँह बड़ी बात ही है, परन्तु उसकी सफलता का रहस्य जानने के लिए थोड़ा सा विश्लेषण आवश्यक है। यदि उनके किसी भाषण की शब्दशः रिपोर्ट ली जाती, और फिर केवल भाषण की दृष्टि से उसकी परीक्षा की जाती तो उसमें एक दोष प्रतीत होता था कि बहुत से वाक्य अधूरे रहते थे और कभी-कभी एक वाक्य की संगति दूसरे से पूरी तरह नहीं मिलती थी। वक्तृत्व कला में माने हुए विभावों और अनुभावों का उनके भाषणों में सर्वथा अभाव रहता था। न कभी वे अपने व्याख्यान को लिखते थे और न व्याख्यान-वेदी के अनेक सिंहों की तरह बड़े आइने के सामने खड़े होकर हाथ आदि की चेष्टाओं का अभ्यास करते थे। इन सब कला-सम्बन्धी त्रुटियों के रहने पर भी यह असंदिग्ध बात है कि वे जिस व्याख्यान-वेदी पर खड़े हो जाते, उस पर अपना पूरा प्रभुत्व स्थापित कर लेते थे, और जनता को अपनी भावना से प्रभावित कर देते थे।

पिताजी की इस सफलता का रहस्य क्या था? इस प्रश्न का उत्तर संक्षेप में यह है कि वे केवल तब बोलने के लिए खड़े होते थे, जब उनके अन्दर से कोई प्रेरणा उठती थी। श्रद्धा और गहरी धार्मिक भावना के कारण उनकी आन्तरिक प्रेरणा सदा गम्भीर और तेजस्विनी होती थीं। केवल बोलने के लिए वे नहीं बोलते थे। उस गम्भीर और तेजस्विनी प्रेरणा से प्रेरित होकर वे जो कुछ कहते थे, वह श्रोताओं के हृदयों को चीरता हुआ चला जाता था। श्रोताओं का ध्यान न उनके वाक्यों के अधूरेपन पर होता था और न वक्तृत्व-

कला के दोषों पर। श्रोता केवल इतना अनुभव करते थे कि वे एक सच्चे हृदय की पुकार सुन रहे हैं और उसे प्रभावित हो जाते थे। एक सफल रिपोर्टर ने यत्न किया कि पिताजी के कुछ बड़े-बड़े व्याख्यानों की शब्दश: रिपोर्ट को संग्रह-रूप में प्रकाशित करे, वह यत्न बहुत ही भद्दा रहा। पढ़ने से उन व्याख्यानों का महत्त्व समझ में नहीं आ सकता था। वे केवल शब्द थे, उनमें वह हृदय नहीं था, जो केवल वक्ता की ध्वनि से प्रतिबिम्बित हो सकता है। इस मौलिक कारण के साथ ही पिताजी का विशाल शरीर, भव्य मूर्ति और गम्भीर तथा ऊँचा स्वर भी उन्हें जनता के हृदयों तक पहुँचने में सहायता देता था। जिस व्याख्यान की मैंने इस अध्याय में चर्चा की है, वह उनके अत्यन्त प्रभावशाली व्याख्यानों में से एक था। उसकी सफलता का यह एक ज़बरदस्त प्रमाण था कि उसमें व्याख्यान-वेदी पर बैठे हुए अनेक वकीलों की आँखों में आँसू बह रहे थे। यह लगभग सर्वसम्मत बात है कि कानून का पेशा करने वाले लोग बुद्धिप्रधान और अतएव भावुकताहीन हो जाते हैं, उन्हें पिघलाने के लिए बहुत ही असाधारण गर्मी की आवश्यकता होनी चाहिए।

उस दिन के दान-पत्र द्वारा जिस यज्ञ में पूर्णाहुति डाली गई, उसका प्रारम्भ लगभग 20 वर्ष पूर्व हो चुका था। जालन्धर में वकालत आरम्भ करने और समाज मन्दिर के सामने वाली कोठी बनाने के मध्य में लगभग 8-10 साल व्यतीत हुए होंगे, उन्हीं को वस्तुत: पिताजी के सांसारिक जीवन के वर्ष कहा जा सकता है। माताजी की मृत्यु से पूर्व ही वे आर्यसमाज में प्रवेश कर चुके थे। यह उनके स्वभाव की विशेषता थी कि वे किसी भी क्षेत्र में आधा प्रवेश नहीं करते थे। आर्यसमाज में भी उन्होंने जब प्रवेश किया, तो शीघ्र ही तन्मय हो गए। सद्धर्म-प्रचारक प्रेस और पत्र की स्थापना भी आर्यसमाज के प्रचार की दृष्टि से ही की गई थी। शीघ्र ही उनका ध्यान वकालत की ओर से हटकर आर्यसमाज की ओर झुकता गया। लाहौर में आर्यसमाज की दो पार्टियों के संघर्ष ने उन पर एक (महात्मा) पार्टी के नेतृत्व का चोला डाल दिया, जिससे उनका अधिक समय आर्यसमाज के अर्पण होने लगा। कभी-कभी तो आर्यसमाज के उत्सवों के कारण वे सप्ताहों और महीनों तक अदालत में उपस्थित नहीं हो सकते थे। गाँव जाकर अपनी ज़मीन की देखभाल करना भी इसी बीच में छोड़ दिया था।

लाहौर में कालेज पार्टी के संघर्ष का मुख्य परिणाम यह हुआ कि महात्मा पार्टी ने वेद-प्रचार के कार्य को अपनाया और पूरे जोर से चलाया। संघर्ष में स्वभावत: गर्मी उत्पन्न होती है। उसी गर्मी ने महात्मा पार्टी के कार्यकर्त्ताओं को असाधारण प्रेरणा दी, जिससे आर्यसमाजों का जाल पंजाब के कोने-कोने में फैल गया।

पार्टी की दृष्टि से यह कार्य बहुत शानदार हुआ, परन्तु पिताजी उतने से सन्तुष्ट नहीं हो सके। कालेज पार्टी पर महात्मा पार्टी का सब से बड़ा आक्षेप यह था कि कालेज में प्रचलित पाठ्य-प्रणाली ऋषि दयानन्द द्वारा प्रातिपादित पाठ्य-प्रणाली के विरुद्ध और अनार्ष है। कालेज वाले कहते थे, यदि हमारी विधि अनार्ष है, तो तुम आर्ष विधि चलाकर दिखाओ। इस चुनौती का जवाब पिताजी का गुरुकुल-सम्बन्धी संकल्प था, जिसकी पूर्ति में उन्होंने अपने यौवन का उत्तर भाग और प्रौढ़ भाग सर्वतोभाव से लगा दिया। वकालत तो तभी छूट गई, जब पिताजी गुरुकुल के लिए 30000/- एकत्र करने की प्रतिज्ञा करके घर से निकले। जब हरिद्वार के समीप गंगा के उस पार मुन्शी अमन सिंह जी ने गुरुकुल के लिए अपना काँगड़ी ग्राम दे दिया, तब पिताजी ने घर भी छोड़ दिया और अपना बोरिया-बँधना उठाकर गुरुकुल की भूमि में आ गए। सद्धर्म-प्रचारक प्रेस और पत्र जालन्धर वाली कोठी में ही चलते रहे। हम दोनों भाइयों को पिताजी ने सबसे प्रथम गुरुकुल के छात्रों की सूची में अङ्कित करा दिया था। उन दिनों सम्भवतः ब्रह्मचारियों से 10/- मासिक फीस ली जाती थी, पीछे से वह निरन्तर बढ़ती गई। जब तक हम दोनों गुरुकुल में शिक्षा प्राप्त करते रहे, तब तक निरन्तर हमारी फीस दी जाती रही। पिताजी निजू खर्च भी गुरुकुल से नहीं लेते थे। यह सब राशि सद्धर्म-प्रचारक की आय से ही दी जाती थी। वर्षों तक सद्धर्म-प्रचारक जालन्धर से निकलता रहा, परन्तु आँखों से इतना दूर रहने के कारण पिताजी ने उसे हरिद्वार मँगा कर चलाने का निश्चय किया। स्वर्गीय पण्डित केशवदेव शास्त्री की प्रबन्धकर्त्ता में पत्र हरिद्वार में कुछ वर्ष तक चलता रहा, परन्तु पूरी देखभाल न होने से वहाँ भी सन्तोषजनक प्रबन्ध नहीं हो सका, फलतः पिताजी को कुछ समय के लिए हरिद्वार जाकर रहना पड़ा। इसका असर गुरुकुल के प्रबन्ध पर पड़ा, जिससे प्रभावित होकर पिताजी ने निश्चय किया कि प्रेस से भी मुक्ति पायी जाए, और सम्पूर्ण सद्धर्म-प्रचारक प्रेस गुरुकुल को दे दिया। सद्धर्म-प्रचारक पत्र अपना ही रखा, वह सद्धर्म-प्रचारक प्रेस से छपता था, और उनकी छपाई गुरुकुल को दी जाती थी। गाँव में हवेली और ज़मीन के जो टुकड़े थे, वे इससे पूर्व ही सम्बन्धियों को दिए जा चुके थे। प्रेस का दान देने के पश्चात् कोठी के सिवा और कोई स्थिर सम्पत्ति पिता के पास शेष नहीं बची थी, फलतः कोठी के दान को सर्वमेधयज्ञ की पूर्णाहुति कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। दान की घोषणा के पश्चात् हितैषी लोग आँसुओं से भरी हुई आँखें और दुःख से लम्बायमान मुँह लेकर पिताजी के पास गए, परन्तु वहाँ देखा कि उनके मुँह पर साधारण से भी अधिक सन्तोष और प्रसन्नता है, मानो एक भारी बोझ सिर से उतर गया है। जो लोग सहानुभूमि प्रकट करने गए थे,

उनका साहस न हुआ कि कुछ कहें, उलटा मन पर यह असर पड़ा कि शायद मकान के बोझ से ही महात्मा जी की सेहत खराब रहती थी, जो बोझ उतर जाने से अच्छी हो जाएगी।

कुछ महानुभावों ने हम भाइयों पर करुणाभरी दृष्टि डालने की कृपा की। हमसे मिले और कहा कि महात्मा जी ने यह बहुत बुरा किया। यदि तुम लोग उज्रदारी करो तो दान-पत्र रद्द हो सकता है। पाठकों को जानकर यह आश्चर्य होगा कि ऐसा कहने वालें महानुभाव आर्यसमाजी ही थे। जब हमसे उन्हें कोई प्रोत्साहन नहीं मिला, तो उन्होंने यही परिणाम निकाला होगा कि हम तो पहले ही जानते थे कि गुरुकुल के ब्रह्मचारी बुद्धू होते हैं, अपनी भलाई-बुराई को नहीं समझते।

बाईसवाँ परिच्छेद

पट-परिवर्तन

1917 के अप्रैल मास में, गुरुकुलोत्सव से एक दिन पहले प्रातः काल के समय पिताजी ने मुझे अपने बंगले पर बुलाकर सूचना दी कि 'मैंने कल संन्यास लेने का निश्चय कर लिया है।' यह मैं पहले बता आया हूँ कि हम दोनों भाइयों पर पिताजी का बहुत आतंक था। मुझे यह याद नहीं कि उन्होंने कभी हमें शारीरिक दण्ड दिया हो, इस का कारण यह नहीं कहा जा सकता कि उस आतंक का कारण भय था। सम्भवतः उसका कारण जहाँ पिताजी का महान् व्यक्तित्व था, वहाँ साथ ही यह भी था कि वे हमारे बचपन में हम लोगों के अधिक निकट नहीं आए। गुरुकुल के जीवन में वे मुख्याधिष्ठाता थे और हम छात्र। हमारा उनसे वही सम्बन्ध था, जो अन्य दूसरे छात्रों का। स्वभावतः उस समय तक हम दोनों भाई पिताजी से किसी विषय पर वाद-विवाद नहीं कर सकते थे, इतना साहस ही नहीं होता था। जिस दिन की मैं बात लिख रहा हूँ, शायद वह पहला दिन था जब मैंने पिताजी से कुछ पूछने का साहस किया।

यह समाचार मुझे अन्य मार्गों से पहले ही मिल चुका था कि पिताजी संन्यास लेंगे। अवसर मिलने पर मुझे जो-जो आपत्तियाँ उठानी थीं, वे भी मैंने पहले से मन में तैयार कर रखी थीं। वे आपत्तियाँ निम्न प्रकार की थीं— 'संन्यास की प्रथा देश और जाति के लिए बहुत हानिकारक है। आप तो पहले ही 'संन्यासी' हैं, वेश बदलने से क्या लाभ? संन्यास ले लेने पर भी आपको सार्वजनिक कामों के झंझट से छुट्टी नहीं मिलेगी।' मेरे इन तर्कों से पिताजी आश्चर्यित जरूर हुए, हाँ, इतना सन्तोष जरूर हुआ कि वह दुःखित अथवा रुष्ट नहीं हुए। अपने संन्यास लेने के पक्ष में उन्होंने बहुत-सी बातें मुझे समझाईं। देर तक मैं सन्देह की दशा में ही बना रहा, किन्तु जब अन्त में पिताजी ने गम्भीर भाव से कहा—"इन्द्र, तुझे तो मालूम ही है कि मैं युक्ति के आधार पर कोई कदम नहीं उठाता, केवल श्रद्धा से प्रेरित होकर ही उठाता हूँ। यह निश्चय भी मैंने श्रद्धावश ही किया है। मेरा यह निश्चय अटल है।" तब मैंने मौन होकर सिर झुका दिया।

इस प्रसंग में पाठक देखेंगे कि मैंने पिताजी के पास अपने एकाकी बुलाए जाने की बात लिखी है। इससे पूर्व प्रायः दोनों भाईयों की इकट्ठी चर्चा करता रहा हूँ। इसके लिए बीच के वर्षों की कुछ घटनाओं की ओर संक्षिप्त

निर्देश कर देना आवश्यक है। 1912 में हम दोनों भाई स्नातक हुए। मैंने इससे पूर्व एक संस्मरण में लिखा था कि पिताजी हरिश्चन्द्र जी को पत्रकार और मुझे बैरिस्टर बनाना चाहते थे, परन्तु 'हमारे मन में कुछ और है, विधना के कुछ और'। घटनाचक्र उलटी गति से चलता रहा। मैं स्नातक बनने से पूर्व ही 'सद्धर्म-प्रचारक' के सम्पादन में सहायता देने लगा था। छात्रावस्था में कई वर्षों तक हस्तलिखित पत्रिका निकालता रहा। स्नातक होने के समय मेरा मन पत्रकार-कला की ओर पूरी तरह झुक चुका था। फलतः मैं 'सद्धर्म-प्रचारक' का सम्पादक बनकर दिल्ली चला आया और भाई हरिश्चन्द्र जी गुरुकुल काँगड़ी में उपाध्याय का कार्य करने लगे। वह उपाध्याय के तौर पर गुरुकुल में एक वर्ष से कुछ अधिक समय तक रहे। उसी वर्ष उनका विवाह हो गया। अगले वर्ष हम लोगों ने स्थान परिवर्तन कर लिया। वह दिल्ली आकर पत्रकार बन गए और मैं गुरुकुल में जाकर उपाध्याय का कार्य करने लगा। दिल्ली आकर भाई जी ने 'सद्धर्म-प्रचारक' ने अतिरिक्त साप्ताहिक 'विजय' निकालना भी आरम्भ कर दिया। वह कुछ दिनों तक खूब चमका, परन्तु उसकी चमक को स्थानीय सरकार न सह सकी और 6 या 7 अंक निकालकर ही उसकी इतिश्री कर देनी पड़ी।

1914 में यूरोप का पहला महायुद्ध आरम्भ हो गया। 'विजय' का प्रकाशन बन्द होने से भाई जी उदास हो चुके थे। इधर संसार की इतनी बड़ी घटना को देखने के लिए मन में जो स्वाभाविक गुदगुदी पैदा होती है, वह बहुत तीव्र हो चुकी थी। उसी समय प्रसिद्ध देशभक्त महेन्द्र प्रताप जी ने भाई जी को विलायत चलने के लिए निमन्त्रित कर दिया। राजा साहब विदेश जाने का अन्तिम निश्चय कर चुके थे। भाई जी को मानो मुँहमाँगी मुराद मिली। वह झटपट दिल्ली का घर-बार समेट कर देहरादून चले गए और वहाँ से पिताजी की आज्ञा, मेरी अनुमति और सहधर्मिणी की सम्मति लिए बिना ही चुपचाप राजा महेन्द्र प्रताप जी के साथ विलायत को रवाना हो गए। उस समय भाई जी का पुत्र रोहिताश्व कुछ महीनों का ही था।

इस प्रकार घटनाचक्र ने पिताजी के पास उपस्थित होने के लिए मुझे अकेला ही छोड़ दिया।

उस वर्ष का गुरुकुलोत्सव पिताजी के संन्यास के रंग से रंगा हुआ था। प्रायः सभी व्याख्यान और भाषणों में उसकी चर्चा की गई। आर्य जनता की ओर से एक मान-पत्र भेंट किया गया। अपील के समय अभ्यर्थना के तौर पर कोई शब्द न कहने पर भी लगभग 70 हज़ार रुपये एकत्रित हो गए।

पिताजी के संन्यास आश्रम में प्रवेश के समाचार को लोगों ने अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न रूप में सुना। मुझसे अनेक सज्जनों ने उस विषय

में बातचीत की, जिससे मैं उनकी भावनाओं को भली प्रकार भाँप सका। सामान्य आर्य जनता बहुत सन्तुष्ट और प्रसन्न थी। उसे पिताजी के त्यागमय जीवन का यह अन्तिम चरण उचित ही प्रतीत होता था। गुरुकुल और सभा के कुछ मुख्य अधिकारियों के सन्तोष और प्रसन्नता के भाव में कुछ थोड़ा सा यह संकुचित भाव मिश्रित प्रतीत होता था कि महात्मा जी के संन्यास लेकर गुरुकुल से अलग हो जाने पर एक बड़ा लाभ यह होगा कि उन लोगों को गुरुकुल का संचालन करने का इच्छानुसार खुला मौका मिलेगा। पिताजी के विशाल व्यक्तित्व से वह अपने मार्ग को रुका हुआ समझते थे। निजी बातचीत में ऐसे लोग अपने भाव को काफी स्पष्टता से प्रकाशित कर रहे थे। सभा के मुख्य अधिकारियों में से जो सबसे ऊँचे थे, उन्हें पिताजी के संन्यास लेने के विचार-मात्र से ही अत्यन्त दुःखी पाया। वह थे आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान लाला रामकृष्ण जी।

लाला रामकृष्ण जी का सार्वजनिक जीवन पिताजी के सार्वजनिक जीवन में इतना ओतप्रोत था कि उनके विषय में विशेष चर्चा किए बिना मैं इस प्रसंग को समाप्त करना नहीं चाहता। लाला रामकृष्ण जी पिताजी के सबसे पुराने और स्थिर साथियों में से थे। जब हम बहुत छोटे थे, गुरुकुल में जाना तो दूर रहा, प्राइमरी स्कूल में भी अभी पढ़ने नहीं गए थे, तब की बात याद है कि लाला रामकृष्ण जी हमारे मकान पर प्रायः प्रतिदिन सायंकाल को आकर पिताजी से बातें किया करते थे। पिताजी आर्यसमाज जालन्धर के प्रधान थे। लगभग 20 साल के पश्चात् जब पिताजी ने संन्यास लेने का विचार किया, तब लाला रामकृष्ण जी गुरुकुल की स्वामिनी सभा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब के प्रधान थे और पिताजी गुरुकुल के मुख्याधिष्ठाता थे। बचपन की यह बात याद है कि हमारा साईस और लाला रामकृष्ण जी का साईस दोनों भाई थे। हमारे साईस का नाम नबीबख्श था ओर उनके साईस का नाम मुरादबख्श। 1917 की यह बात है कि जब जनता और साथ में अन्य काम करने वालों ने पिताजी को महात्मा जी कहना शुरु कर दिया, तब भी केवल लाला रामकृष्ण जी ही एक ऐसे थे, जो उन्हें केवल मुन्शीराम जी कह कर बुलाया करते थे और पिताजी भी उन्हें रामकृष्ण जी कहकर पुकारा करते थे। उनके प्रेम का ही बन्धन था, जिसने तीन वर्ष तक पिताजी को संन्यास लेने से रोक रखा।

यों चरित्र विश्लेषण की दृष्टि से, पिताजी की लाला रामकृष्ण जी की तुलना बहुत ही मनोरंजक हो सकती है। ऊपर के रूप की दृष्टि से दोनों में पूर्ण विषमता थी। पिताजी हज़ारों की भीड़ में भी सब से अलग और प्रमुख दिखाई देते थे और लाला रामकृष्ण जी को सभा के प्रधान की कुर्सी पर बैठे

होने पर भी तब तक कोई प्रधान नहीं समझ सकता था, जब तक उसे बताया न जाए। पंजाब के खत्रियों का सा साधारण वेष, छोटी-छोटी दाढ़ी और शान का सर्वथा अभाव उन्हें मध्यम श्रेणी की जनता में मिला देता था। पिताजी कहा करते थे कि लाला रामकृष्ण जी चौबीस घण्टों में एक वाक्य प्रति घण्टा के हिसाब से अधिक कभी नहीं बोलते। व्याख्यान देने के लिए उन्हें व्याख्यान-वेदी पर आते मैंने कभी नहीं देखा। सम्भव है, कोई सौभाग्यशाली ऐसा हो, जिसने कभी एकाध बार उनका पाँच मिनट का व्याख्यान सुना हो।

वह ऐसा व्यक्ति था, जिसने ग्यारह या बारह वर्षों तक आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब जैसी सजीव और कोलाहलपूर्ण संस्था का संचालन किया। ऐसा मित्र था, जिसने बीस से अधिक वर्षों तक पिताजी के साथ अटूट सामाजिक बन्धुत्व निभाया। बीसियों मित्र बने और अलग हो गए, उनसे भी अधिक लोग भक्त श्रेणी में शामिल हुए और साथ न चल सकने के कारण या तो पिछड़ गए अथवा समालोचक बन गए। पर लाला रामकृष्ण जी ने पिताजी के सम्पूर्ण आर्य-सामाजिक जीवन में अपने को लक्ष्मण बनाए रखा। दृढता और स्थिरता ये दो प्रधान रामकृष्ण जी के जीवन के मूल मन्त्र थे। उन्होंने उन्हें कुन्दन बना दिया था।

गुरुकुल के उत्सव की समाप्ति से अगले दिन पिताजी संन्यास ग्रहण करने वाले थे। मैंने देखा कि गुरुकुल में विद्यमान सभी नर-नारी ऐसा अनुभव कर रहे थे, जैसे उनका बुजुर्ग ही संन्यास ले रहा हो। जैसे किसी सम्बन्धी के अलग होने से दुःख होता है, वैसा ही सब लोग अनुभव कर रहे थे। केवल युक्ति की कसौटी पर कस कर देखें तो वह दुःख सहेतुक प्रतीत नहीं होता था। वह संन्यास ही तो ले रहे थे, देश छोड़ कर तो नहीं जा रहे थे। हमारी बड़ी बहिन वेदकुमारी जी आँसुओं से रो रही थीं। गुरुकुल के ब्रह्मचारी और अध्यापक जब अपने मुख्याधिष्ठाता और आचार्य को विदा दे रहे थे, तब उनकी आँखें भीगी हुई थी। दूसरे की क्या कहूँ, मैं स्वयं इस बात पर आश्चर्यित था कि कई बार आँसुओं ने मेरी आँखों से भी निकलने का यत्न किया और जब मैंने यह सोचकर कि इस अवसर पर रोना अहेतुक है, उन्हें बार-बार रोकने का प्रयत्न किया तो उसका मेरे शरीर पर बुरा असर पड़ा। संस्कार से एक दिन पहले मुझ ज्वर आ गया।

उत्सव से अगले रोज़ प्रातःकाल गंगा के इस पार मायापुर वाटिका में संन्यास ग्रहण का समारोह हुआ। गुरुकुल के उत्सव में उपस्थित प्रायः सभी नर-नारी मायापुर में ठहर गए। संस्कार के समय हज़ारों की भीड़ थी। आर्यसमाज के बहुत से संन्यासी, पण्डित तथा अधिकारी साक्षी रूप से उपस्थित थे।

संस्कार में सबसे विशेष बात यह हुई कि पिताजी ने किसी महानुभाव को अपना आचार्य न बनाकर परमात्मा को ही आचार्य माना और जो प्रक्रिया आचार्य द्वारा होनी चाहिए थी, वह स्वयं ही पूरी कर ली। इस पर कुछ संन्यासियों और पुराने ढंग के रूढ़िवादी आर्य लोगों में भी काफी असन्तोष उत्पन्न हुआ। हल्की सी बुड़बुड़ाहट भी सुनाई दी, परन्तु जब पिताजी क्षौर कराकर और विधिपूर्वक भगवा वेश पहनकर यज्ञ-मण्डप में आए तो चारों ओर से जो प्रसन्नतासूचक जयकारों और तालियों की गड़गड़ाहट का शब्द उठा, उसमें सब विरोधी भावनाएँ दब गयीं। अन्त में पिताजी ने खड़े होकर निम्नलिखित आशय की घोषणा की—

"मैं सदा सब निश्चय परमात्मा की प्रेरणा से श्रद्धापूर्वक ही करता रहा हूँ। मैंने संन्यास भी श्रद्धा की भावना से प्रेरित होकर ही लिया है। इस कारण मैंने 'श्रद्धानन्द' नाम धारण करके संन्यास में प्रवेश किया है। आप सब नर-नारी प्रभु से प्रार्थना करें कि वे मुझे अपने इस नये व्रत को पूर्णता से निभाने की शक्ति दें।"

इस प्रकार श्रद्धा से प्रेरित होकर सर्वमेधयज्ञ का यह अन्तिम विधान भी पिताजी ने पूरा कर दिया। इसका एक परिणाम यह हुआ कि मेरा पिताजी कहने का अधिकार छिन गया और मुझे भी अन्य सब लोगों की तरह स्वामी जी कहने के लिए कर्तव्यबद्ध होना पड़ा।

तेईसवाँ परिच्छेद

राजनीति के रणक्षेत्र में

लगभग दो वर्ष पूर्व, 1917 ई० के अप्रैल मास में पिताजी मायापुर वाटिका में सन्यास ग्रहण कर रहे थे और मैं गुरुकुल काँगड़ी उपाध्याय की हैसियत से दर्शकों में बैठा हुआ था। घटनाचक्र का यह वृत्तान्त जो मैं अब सुनाने लगा हूँ, 1919 ई० के मार्च मास के अन्त में प्रारम्भ होता है।

29 मार्च, 1919 के सायंकाल दिल्ली में एक विराट सभा हुई। उसके सभापति स्वामी जी (पिताजी) थे। उपस्थिति लगभग 10 हज़ार की थी, जो सत्याग्रह आन्दोलन के प्रारम्भ काल में बहुत मानी जाती थी। सभा में जिन वक्ताओं के भाषण हुए, उनमें मेरे अतिरिक्त मिस्टर अब्बास हुसैन कारी, मौलाना अहमद सईद और लाला शंकरलाल के नाम उल्लेख योग्य हैं। सभा का उद्देश्य दिल्ली निवासियों को उस हड़ताल की सूचना देनी थी, जो 30 मार्च को रौलट एक्ट के विरुद्ध प्रतिवाद के रूप में होने वाली थीं।

इस समाचार को भली प्रकार समझने के लिए बीच की कुछ घटनाओं का दिग्दर्शन उपयोगी होगी। स्वामी जी ने संन्यास लेने के साथ ही गुरुकुल छोड़ दिया और दिल्ली आ गए। दिल्ली के प्रसिद्ध दानवीर सेठ रग्घूमल लोहिया चिरकाल से स्वामी जी में श्रद्धा और आस्था रखते थे। नया बाज़ार (बर्नबैश्चन रोड, वर्तमान श्रद्धानन्द बाज़ार) पर उनके दो मकान थे। उनमें से एक मकान की पहली सारी मंजिल सेठ जी ने आश्रम के तौर पर उपयोग में लाने के लिए स्वामी जी को समर्पित कर दी। स्वामी जी ने उसमें आश्रम बनाया और जीवन के शेष वर्षों में उसी में स्थिर निवास रखा। उसी मकान को 'श्रद्धानन्द बलिदान-भवन' के नाम से प्रसिद्ध होने का सौभाग्य मिला है। बीच के दो वर्षों में स्वामी जी ने दिल्ली में तथा उत्तरीय भारत के अन्य प्रदेशों में दलितोद्धार आन्दोलन को जागरित और संगठित किया।

मैंने 1918 के अन्तिम भाग में गुरुकुल से एक वर्ष की फर्लो प्राप्त कर ली थी, और नये बाजार के ही दूसरे भाग में एक मकान किराए पर लेकर 'विजय' नाम का दैनिक पत्र निकाला था। 'विजय' की कहानी कहीं अन्यत्र विस्तार से सुनाई जाएगी, यहाँ तो वृत्तान्त के क्रम को बाँधने के लिए केवल इतना बतला देना आवश्यक है कि मैं गुरुकुल से अवकाश लेकर दिल्ली आ गया था और दैनिक 'विजय' का सम्पादन और संचालन करता था। 'विजय' दिल्ली और पंजाब का पहला हिन्दी दैनिक पत्र था। उसका दृष्टिकोण विशुद्ध

राष्ट्रीय था।

1918 ई० में यूरोप का पहला महासंग्राम समाप्त हुआ। युद्ध के समय इंग्लैण्ड के शासकों ने हिन्दुस्तानियों को स्वराज्य की बड़ी-बड़ी आशाएँ दिलाई थीं। जब युद्ध समाप्त हो गया, और इंग्लैण्ड की जीत हो गई तो भारतवासियों को स्वराज्य की पहली किस्त रौलट ऐक्ट के रूप में पेश की गई। उस समय की प्रचलित भाषा में रोटी की आशा दिला कर पत्थर भेंट किया गया। देश में इस विश्वासघात के कारण असन्तोष और रोष की घोर ज्वाला उत्पन्न हुई, जो निरन्तर बढ़ती गई। अन्त में महात्मा गाँधी मैदान में आये और देशवासियों के सामने अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा रौलट ऐक्ट का विरोध करने का प्रस्ताव रखा।

स्वामी जी तब तक क्रियात्मक राजनीति से सर्वथा अलग रहते थे। उन्हें कोरी राजनीति में अणुमात्र भी श्रद्धा नहीं थी। उसे वह केवल 'प्रदर्शन' मानते थे। गाँधी जी की तपस्यात्मक राजनीति के मैदान में आते ही स्वामी जी का हृदय उस ओर झुक गया। जब 1919 के प्रारम्भ में महात्मा गाँधी भारत के वायसराय से मिलने दिल्ली आये, तो स्वामी जी ने उनसे भेंट की। उस भेंट का पूरा विवरण तो प्राप्त नहीं हैं, हाँ, उस भेंट के पश्चात् स्वामी जी ने मुझे बतलाया कि यदि महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह आरम्भ किया तो मैंने उन्हें आश्वासन दे दिया है कि मैं उनका साथ दूँगा। स्वामी जी दिल्ली की सत्याग्रही सेना के प्रथम सैनिक, और प्रकृतिसिद्ध गुणों के अनुसार प्रथम मार्गदर्शक बन गए। वायसराय की ओर से महात्मा गाँधी को कोरा उत्तर मिला और उन्होंने सत्याग्रह आरम्भ करने की घोषणा कर दी, तो दिल्ली में भी सत्याग्रह कमेटी स्थापित हो गई। स्वामी जी के पीछे-पीछे मैं भी उसमें सम्मिलित हो गया।

सत्याग्रह की लड़ाई का पहला कदम यह था कि देश-भर में एक निश्चित दिवस 'प्रार्थना-दिवस' के रूप में मनाया जाए, जिसमें आम हड़ताल हो, सब लोग दिन-भर का उपवास करें और ईश्वर से देश के कल्याण की प्रार्थना करें। इस पग के उठाने में दिल्ली की सत्याग्रह कमेटी सबसे तेज रही। अभी महात्मा गाँधी ने हड़ताल का दिन निश्चित नहीं किया था कि दिल्ली की सत्याग्रह कमेटी ने घोषणा कर दी कि 30 मार्च को शहर में पूरी हड़ताल होगी और उपवास रखा जाएगा। जिस सभा के विवरण से यह परिच्छेद आरम्भ हुआ है, वह उसी दिवस का कार्यक्रम जनता को समझाने के लिए बुलाई गई थी।

उस सभा में कई विशेषाताएँ थीं, जिन्हें हम राजनीति में आने वाले युग के चिह्न कहें तो अनुचित न होगा। स्वामीजी का तब तक का जीवन धर्म

और शिक्षा के विस्तार में व्यतीत हुआ था। वे पहली बार इतनी बड़ी राजनीतिक सभा का सभापतित्व कर रहे थे। मौलाना अहमद सईद का इससे पूर्व राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं था। वे मस्जिद में कुरान की शिक्षा देते थे, मज़हबी जलसों में वाज़ करते थे, और कभी-कभी आर्यसमाजी पण्डितों से मुबाहिसा भी किया करते थे। उनका एक राजनीतिक जलसे में आना समय का चिह्न था। 1914-18 के युद्ध में टर्की का अंग्रेज़ों के विरुद्ध लड़ कर परास्त होना और फिर मित्र राष्ट्रों की जीत के कारण खिलाफत का नष्टप्राय: होना अपना असर दिखा रहा था। मौलवी-सम्प्रदाय की अंग्रेज़ी-विरोधिनी भावना प्रतिदिन वृद्धि पर थी।

कारी साहिब उन मसुलमान नौजवानों में से थे, जो मज़हबी दीवाने नहीं थे। उनके हृदयों में वस्तुत: देशभक्ति का भाव विद्यमान था। वे प्रसन्न थे कि घटनाचक्र ने उनके मज़हब को राजनीति के अनुकूल बना दिया है। उन्हें सन्तोष था कि वह कट्टर मुसलमान रहते हुए भी जनता के सामने देशभक्ति की बातें कह सकते थे।

मेरा बचपन से ही राजनीति की ओर झुकाव था। दिल्ली आकर मेरे उस झुकाव को पनपने और कार्यरूप में परिणत होने का अवसर मिला, मानो प्यासे को पानी मिल गया। पिताजी के राजनीति-प्रवेश ने मुझे अवसर दिया कि मैं अपनी बचपन की हवस को पूरा करने के लिए गहरे पानी में लम्बी छलाँग लगा दूँ।

30 मार्च का दिन शुभ लक्षणों के साथ प्रारम्भ हुआ। प्रात:काल उठते ही चारों ओर पूरी हड़ताल के दृश्य दिखाई दिए। सब्र बाज़ार एकदम बन्द थे। हज़ार में से नौ सौ नब्बे दुकानें खुली ही नहीं थीं। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान, क्या सिख और क्या जैनी—सबने एकदम हड़ताल कर दी थी। चमारों और कसाइयों तक ने पंचायत करके काम बन्द कर दिया था। सदर के एक आनरेरी मजिस्ट्रेट खाँ साहब ने दुकान खोल तो दी और भाई-बन्धुओं की कोई परवाह न की, लेकिन लोकमत का बल देखिए, थोड़ी देर में खाँ साहब भी तालियाँ जेब में दबाए घर जाते नज़र आए। आठ बजते-बजते पता चल गया कि सारा शहर आज हड़ताल पर है। शेष 10 फीसदी दुकानें दोपहर से पहले बन्द हो गईं।

धीरे-धीरे बाज़ार बन्द करके लोग सड़कों पर आने लगे। आकर देखा तो सवारियों की भरी ट्रामें चल रही थीं। जनता ने ट्राम, ताँगा और इक्कों की सवारियों के आगे हाथ जोड़े और पैदल चलने को कहा। परिणाम यह हुआ कि एक घण्टे-भर में सारे शहर की ट्रामें बिलकुल बन्द हो गई और तांगे तथा इक्के खाली घूमने लगे। नाई हजामत बना रहे थे। उनसे पूछने पर उत्तर

मिला कि साहब, हम किसी से पैसा न लेंगे। हलवाइयों के पास बाँध का दूध आया, वह सब उन्होंने बच्चों और गरीबों को मुफ्त बाँट दिया। चाँदनी चौक की घण्टाघर वाली प्रसिद्ध दुकान ने पाँच मन दूध इसी प्रकार बाँट दिया।

ये समाचार मैंने थोड़े से शाब्दिक परिवर्तन के साथ उस समय के 'विजय' से उद्धृत किए हैं। इस अध्याय में स्थान-स्थान पर मैं इसी प्रकार 'विजय' के उद्धरण दूँगा। उस समय 'विजय' का सम्पादक, मैनेजर और रिपोर्टर मैं ही था। यह सब वृत्तान्त मेरा ही लिखा हुआ है। इस कारण इसे मैं अपने स्मृतियों का बिल्कुल ताज़ा टुकड़ा ही समझता हूँ।

नौ बजे तक शहर में बिल्कुल शान्त हड़ताल रही। उसके पश्चात् तरह-तरह के विक्षोभजनक समाचार फैलने लगे। एक समाचार यह फैला कि हौज़ काज़ी के पास कुछ लड़कों ने एक मोटर को रोककर सवारी को नीचे उतरने के लिए कहा, जैसे कि जनता सभी से कह रही थी। दैवयोग से मोटर में बैठे हुए साहब पुलिस के कप्तान थे। आपने लड़कों की इस हरकत को इतना बुरा समझा कि आव देखा न ताव और सीटी बजा कर झट से पुलिस को बुला लिया। पुलिस ने आते ही डण्डा बरसाना शुरू कर दिया। इस पर भीड़ बिखर गई, जिसके पश्चात् पुलिस ने दो आदमियों को गिरफ्तार करके कोतवाली में पहुँचा दिया।

इधर यह हो रहा था, उधर रेल के स्टेशन पर घटनाओं का चक्र और भी अधिक तेज़ी से चल रहा था। दो-तीन स्वयंसेवक स्टेशन के दुकानदारों को दुकानें बन्द करने की प्रेरणा करने गए। दुकानदार दुकान बन्द करने को तैयार हो गए। इतने में ठेकेदार आ गया और उसने हड़ताल करने से इन्कार कर दिया। इस समय स्टेशन पर काफी भीड़ इकट्ठी हो चुकी थी। उसे देखकर रेलवे पुलिस का सुपरिण्टेण्डेण्ट वहाँ आकर लोगों को धमकाने लगा। इस पर एक-दो आदमियों ने जवाब दे दिया। साहब ने सीटी देकर पुलिस इकट्ठी कर ली और दो आदमियों को गिरफ्तार करके स्टेशन की हवालात में बन्द करा दिया। यह समाचार शहर में फैल गया कि स्टेशन पर दो स्वयंसेवक पकड़े गए हैं। थोड़ी देर में स्टेशन के सामने चार-पाँच हज़ार आदमी इकट्ठे हो गए। लोगों ने पुलिस से कहा कि दोनों आदमी बेकुसूर हैं, छोड़ दिए जाएँ। पुलिस ने उत्तर दिया कि दोनों छोड़ दिये गए। इस पर लोगों ने आग्रह किया कि छोड़ दिए गए हैं तो दिखा दो। इधर यह बातचीत हो रही थी, उधर किले से मशीनगनों के साथ गोरों का रिसाला आ पहुँचा। हथियारबन्द पुलिस वहाँ पहले ही विद्यमान थी। डराने का यह सब सामान सामने खड़ा करके भीड़ को हट जाने का हुक्म दिया गया। लोग डरे नहीं, जमकर खड़े रहे और

यह कहते रहे कि हमारे दोनों आदमी दे दो, हम चले जाएँगे। कहते है, एक चौदह साल का ब्रह्मचारी कूद कर मशीनगन पर चढ़ गया, और लोगों को निर्भयता का उपदेश देने लगा। पुलिस के आदमियों ने उसे पकड़ कर नीचे उतारा। इस समय अकस्मात् सिपाहियों ने पहले भीड़ पर संगीनों का वार किया, फिर गोली चला दी।

संगीनों और गोलियों ने कितने लोगों को घायल किया, इसके बारे में एकमत नहीं हो सका। दर्शकों की सम्मति थी कि सत्ताईस के लगभग आदमी घायल हुए, जिनमें से दो वहीं मर गए। लाशों और घायलों की घसीट कर सिपाही कम्पनी बाग में ले गए। बाग को भीड़ से खाली कराकर उसके सब दरवाज़े पुलिस ने बन्द कर दिए। इस कार्य ने शहर में घायलों की दशा और संख्या के सम्बन्ध में तरह-तरह की अफवाहें फैलाने में बहुत सहायता दी। प्रसिद्ध हो गया कि बाग में सैकड़ों लाशें इकट्ठी हो गई हैं। स्टेशन की ओर से हटाए जाकर लोग चाँदनी चौक में इकट्ठे हो गए और बाग के घण्टाघर के सामने वाले द्वार पर जमा होकर पुलिस से लाशों की मांग करने लगे। बाग के द्वार बन्द थे। बाहर भीड़ थी और अन्दर पुलिस। कहा-सुनी में पुलिस के आदमियों को तैश आ गया। पीछे से कहा गया कि लड़कों ने पुलिस के सिपाहियों पर पत्थर फेंके थे। सम्भव है, किसी लड़के ने पत्थर फेंका भी हो। पुलिस ने दूसरी बार फिर गोली चला दी, जिससे कम से कम 10 आदमी घायल हो गए। पुलिस यहाँ से भी घायलों को घसीट कर बाग में ले गई।

इस प्रकार भारत के इस नवीन अभ्युत्थान का श्रीगणेश रक्तपात से हुआ। सरकार की गोलियों से भारतीय प्रजा का रक्त बह कर मिश्रित हो गया। उसमें हिन्दुओं का भी रक्त था और मुसलमानों का भी। कुर्बानी के उस अनूठे मिश्रण ने नगर में जागृति, जोश और एकता की एक ऐसी लहर उत्पन्न कर दी, जैसी इस सदियों बूढ़ी नगरी में इससे पूर्व शायद ही कभी दिखाई दी हो।

चौबीसवाँ परिच्छेद

संगीनों की नोक पर

जो सभा पीपल-पार्क में चार बजे से शुरू होने वाली थी, वह अढ़ाई बजे ही आरम्भ कर देनी पड़ी। पीपल-पार्क के शेष भाग में अभी धूप थी, इस कारण पत्थर वाले कुएँ के पास बनारसी कृष्णा मैन्शन की छाया में लोग बैठ गए और वहीं सभा आरम्भ हुई। कुछ कविताएँ पढ़ी गईं, जिनके पश्चात् पिताजी जनता को शान्ति का उपदेश देने के लिए खड़े हुए। उसी समय गोली चलने की आवाज सुनाई दी, और थोड़ी देर बाद घबराये हुए लोग भाग कर आये। उनसे मालूम हुआ कि पुलिस ने घण्टाघर पर एकत्रित हुई जनता पर गोली चला दी है, जिससे बहुत से व्यक्ति घायल हो गए हैं। इस समाचार से लोगों में हलचल सी मच गई और वे हिलने लगे हैं। उन्हें समझा-बुझा कर शान्त किया जा रहा था कि इतने में उत्तर दिशा से घुड़सवार सेना का एक दस्ता सभा की ओर बढ़ता दिखाई दिया। सन् 57 (1857) की क्रान्ति के बाद शायद यह पहला अवसर था कि दिल्ली के निवासियों पर सेना चढ़ाई करती हुई दिखाई दी। जनता ने जिस धैर्य से उस दृश्य का सामना किया, वह प्रशंसनीय था। लोग अपनी जगह पर बैठे प्रतीक्षा करने लगे कि आगे क्या होगा। सेना की टुकड़ी सभा के पास आकर रुक गई। उनके अफसर ने आगे बढ़कर पूछा—"यह क्या हो रहा है?" स्वामी जी उस समय व्याख्यान दे रहे थे। उन्होंने अफसर को अंग्रेज़ी में समझाया—"यह सभा हो रही है और मैं लोगों को शान्त रहने का उपदेश दे रहा हूँ।" इस उत्तर से वह अफसर किंकर्तव्यविमूढ़ सा हो गया और कुछ देर तक चुप रहकर बोला—"अच्छा, तो आप लोग अमन से जलसा करते रहिए, हम जाते हैं।" यह कह कर वह सिपाहियों को लेकर चला गया। सभा जारी रही।

लगभग साढ़े चार बजे मैदान में छाया काफी फैल गई थी। तब मंच बनाकर खुली जगह में सभा जारी रखी गई। अभी पाँच ही बजे होंगे कि फौज ने दूसरी बार सभा का घेरा डाल दिया। इस बार सभा को लगभग चारों ओर से घेर लिया गया। एक ओर घुड़सवार सेना थी। किले की ओर सड़क पर कई मशीनगनें खड़ी थीं और दो ओर से पुलिस ने नाकाबन्दी की हुई थी। पुलिस के आगे-आगे दिल्ली प्रान्त के कमिश्नर मि० बैरन, डिप्टी कमिश्नर मि० वीडन, सिटी मजिस्ट्रेट, कोतवाल आदि अधिकारियों की कतार लगी हुई थी। यद्यपि परिस्थिति काफी भयंकर थी, तो जनता हिली नहीं, अपनी

जगह जमी रही। उस समय स्वामी जी मंच पर खड़े होकर जनता को शान्त रहने का उपदेश दे रहे थे। चीफ कमिश्नर ने हाथ के इशारे से स्वामी जी को अपने पास आने को कहा। पहले तो स्वामी जी ने चीफ कमिश्नर को उत्तर दिया—"मैं यहीं से सुन लूँगा और आपको जवाब दे दूँगा। आप को जो कुछ कहना है, वहीं से कह दीजिए।" परन्तु जब कमिश्नर ने दो-तीन बार स्वामी जी को पास आने को कहा, तब वे बाहर चले गए और चीफ कमिश्नर से बातें करने लगे। स्वामी जी ने चीफ कमिश्नर को बताया—"हम पुर-अमन सभा कर रहे हैं। मैं लोगों को शान्त रहने का उपदेश दे रहा हूँ।" इस पर चीफ कमिश्नर से स्वामी जी से पूछा कि आप लोग इन्हें भड़कायेंगे तो नहीं ? स्वामी जी ने उत्तर दिया—"हम सत्याग्रही हैं, हम लोगों को शान्ति का उपदेश दे रहे हैं, आपको ऐसा सन्देह भी न करना चाहिए कि हम इन्हें भड़कायेंगे।" चीफ कमिश्नर ने बातचीत के अन्त में स्वामी जी से कहा—"मैं आप की जिम्मेवारी पर इस सभा को जारी रहने देता हूँ।" स्वामी जी ने उत्तर दिया—"मैं जिम्मेवारी लेने को तैयार हूँ, यदि पुलिस या सेना व्यर्थ में दखल देकर लोगों को न भड़कायें।" चीफ कमिश्नर यह कहकर दल-बल सहित सभा से चले गए कि जलसा शान्ति से कर लो; जलसे के बाद घरों को जाते हुए लोग कोई गड़बड़ न करेंगे तो पुलिस या मिलिटरी के लोग किसी प्रकार की दस्तअन्दाज़ी नहीं करेंगे।

सभा के किले का दूसरा घेरा उठ जाने के पश्चात् कार्यवाही फिर जारी हो गई। मि० श्वैब कुरैशी एम० ए० ने, जो अब पाकिस्तान में एक उच्च अधिकारी हैं, एक शानदार व्याख्यान दिया, जिसका अन्तिम भाग यह था—"ये हैवानी ताकतें है, आप इन से न डरें। खुदा आपके साथ है। ज़ालिम ज़ुल्म करें और आप सदाकत पर जमे रहें।"

इस सभा में पण्डित लक्ष्मीनारायण जी का भी भाषण हुआ। पण्डित जी कट्टर सनातनधर्मी थे और बहुत ही पुराने विचारों के प्रचारक समझे जाते थे। उन्हें राजनीतिक सभा में बोलते देखकर लोगों को बहुत आश्चर्य हुआ। मौलाना अहमद सईद और पण्डित लक्ष्मीनारायण जैसे कट्टर मज़हबी आदमियों का राजनीति के मंच पर आ जाना उस जागृति का एक चमत्कार था।

जब उस दिन की सभा समाप्त हुई, जब आकाश में सन्ध्या का अन्धेरा छा चुका था। शान्ति का उपदेश चार-पाँच घण्टे तक सुनकर जनता अशान्ति के प्रभाव से निकल चुकी थी। दिन की घटनाओं से जो विक्षोभ उत्पन्न हुआ था, वह सत्याग्रह के सन्देश से कुछ शान्त हो गया था। सभा-स्थान से आगे-आगे स्वामी जी चले और उनके पीछे 'भारत माता की जय', 'हिन्दू-मुसलमान की जय' आदि के नारे लगाती हुई जनता चली। वह लगभग बीस-पच्चीस

हज़ार की भीड़ एक क्रम में बँध कर फव्वारे से होती हुई घण्टाघर की ओर जा रही थी और उन के पीछे-पीछे कई मशीनगनें और बहुत से घुड़सवार सिपाही, मानो पहरा देते जा रहे थे। मैं भी उस भीड़ की अगली श्रेणी में, स्वामी जी की दाईं ओर चल रहा था। इससे जो घटना घण्टाघर पर हुई—वह मैंने पूरी तरह आँखों से देखी। बहुत-से चित्रकारों और कवियों ने उस घटना के प्रतिभासम्पन्न चित्र खींचे हैं। मैं उसका यथासम्भव वर्णन लिखता हूँ।

सारी घटना लगभग पाँच मिनट में समाप्त हो गई। जब जनसमुदाय घण्टाघर तक पहुँच गया, तब देखा कि कुछ आगे, कम्पनी बाग की ओर, गुरखा सिपाही लाइन बाँधे खड़े हैं। लोग नारे लगाने में मस्त थे और तेज़ी से आगे बढ़ते जा रहे थे। सिपाही भीड़ को अपनी ओर आता देखकर कुछ घबरा गए और तीन-चार कदम पीछे हटकर अपनी बन्दूकों को ऐसे ढंग से सम्हालने लगे, जैसे गोली छोड़ने के समय सम्हालते हैं। उस समय उनका अफसर वहाँ नहीं था, इस कारण वे किंकर्तव्य-विमूढ़-से हो रहे थे कि इतने में एक बन्दूक चल गई थी। सरकार का बयान था कि वह Misfire था, अर्थात् गोली भूल से चल गई थी। यह सर्वथा सम्भव है कि गोली भूल से चल गई हो। लोग गोली की आवाज से विक्षुब्ध हो गए। स्वामी जी ने लोगों को वहीं ठहरने और खड़े रहने का आदेश दिया और स्वयं आगे बढ़कर सिपाहियों की श्रेणी के ठीक सामने जाकर खड़े हो गए। सिपाही आश्चर्यित थे कि अब क्या करें।

स्वामी जी ने सिपाहियों से पूछा—"तुमने गोली क्यों चलाई?"

इस प्रश्न का कोई उत्तर न देकर कई सिपाहियों ने अपनी बन्दूकों की संगीनें स्वामी जी की ओर बढ़ाते हुए कहा—"हट जाओ, नहीं तो हम छेद देंगे।" स्वामी जी एक कदम और बढ़ गए। अब संगीन की नोक स्वामी जी की छाती को छू रही थी। स्वामी जी ने बड़े ऊँचे स्वर से कहा—"मार दो।" और वहीं खड़े रहे।

यह दृश्य शायद मिनट-भर रहा होगा। इतने में एक अंग्रेज़ अफसर घोड़ा भगाये हुए वहाँ आया। उसके आने पर सिपाहियों ने बन्दूकें नीची कर लीं। स्वामी जी ने अफसर से पूछा—"गोली क्यों चलाई गई?"

अफसर ने बहुत अस्पष्ट शब्दों में उत्तर दिया—"It was only misfire"—गोली भूल से चल गई थी। साथ ही उसने सिपाहियों को पीछे हटकर भीड़ के लिए रास्ता छोड़ने का हुक्म दे दिया। सिपाही पीछे हट गए। जनता ने फिर अपना कोलाहलपूर्ण प्रयाण जारी रखा। यह जुलूस नये बाज़ार में श्रद्धानन्द-बलिदान-भवन की इमारत तक गया। स्वामी जी सीढ़ियों पर चढ़ गए और लोग अपने-अपने घरों को चले गए।

पच्चीसवाँ परिच्छेद

मस्जिद के मिम्बर पर

यह कहने में जरा सी भी अत्युक्ति नहीं है कि 30 मार्च की घटनाओं ने केवल दिल्ली-निवासियों में ही नहीं, प्रत्युत भारत के बहुत बड़े भाग में मानसिक क्रान्ति पैदा कर दी थी। उस दिन सायंकाल के समय जो भावना जनता में उत्पन्न हो गई थी, उसे देखते हुए हम कह सकते हैं कि उस दिन के बाद बारह घण्टों में जो परिवर्तन आया, सामान्य रूप से वह बारह वर्षों में भी न आया। कहावत है—लहू पानी की अपेक्षा गाढ़ा होता है। यह उस दिन देखने में आया। पुलिस और फौज की गोलियों ने जिन लोगों को घायल अथवा शहीद किया, उन में हिन्दू भी थे और मुसलमान भी। दोनों का लहू बहकर मिल गया। इस रक्तमिश्रण ने चमत्कार कर दिखाया। 31 मार्च के प्रात:काल मानो हिन्दू-मुसलमानों का भेद मिट चुका था। 'हम' शब्द से 'ह' से हिन्दू और 'म' से मुसलमान का ग्रहण करके एकता के बन्धन की घोषणा करने का रिवाज़ उसी समय से चला है। 31 मार्च के प्रात:काल 30 मार्च को गोली से आहत हुए एक मुसलमान का जनाज़ा निकला। दिल्ली-निवासियों को अपने हृदय में भरे हुए रोष और जोश को प्रकाशित करने का अच्छा अवसर मिला। जनाज़ा जब घण्टाघर के पास पहुँचा, तब लगभग उसके साथ दो लाख की भीड़ थी। भीड़ में हिन्दू अधिक थे या मुसलमान, यह कहना कठिन है। जनाज़े के साथ स्वामी श्रद्धानन्द जी थे और हकीम अज़मल खाँ भी। दिल्ली की इन दोनों विभूतियों का प्रथम साक्षात्कार जनाज़े के जुलूस में ही हुआ।

अगले दिन सिविल हस्पताल से पाँच शहीदों की लाशें मिलीं। उनमें से दो मुसलमान थे और तीन हिन्दू। कुछ दूर तक पाँचों आर्थियाँ साथ-साथ चलीं। उस समय अनुमान लगाया गया कि उनके साथ कम से कम तीन लाख हिन्दू व मुसलमानों की भीड़ थी। चाँदनी चौक से भीड़ दो हिस्सों में बँट गई। मुसलमानों का जनाज़ा ईदगाह की ओर चला गया और हिन्दुओं की अर्थियाँ यमुना जी की ओर। ईदगाह और निगम बोध घाट पर बेतहाशा भीड़ थी। दोनों जगह देशभक्ति और एकता पर व्याख्यान हो रहे थे।

इस जोश की चरम सीमा उस समय प्रकट हुई, जब 4 अप्रैल के दिन, दोपहर बाद की नमाज़ के पीछे जामा मस्जिद में मुसलमानों का एक विशाल जलसा हो रहा था और उसमें मौलाना अब्दुल्ला चूड़ी वाले ने आवाज देकर

कहा—"स्वामी श्रद्धानन्द जी की तकरीर भी होनी चाहिए।" नार-ए-तकबीर से मस्जिद गूँज उठी। दो-तीन जोशीले नौजवान उठे और ताँगे पर जाकर नये बाज़ार से स्वामी जी को लिवा लाए। 'अल्ला-हो-अकबर' के नारों के साथ स्वामी जी मस्जिद की वेदी पर आरूढ़ हुए। शायद यह भारत के ही नहीं, इस्लाम के इतिहास में पहला अवसर था कि एक मुसलमानेतर व्यक्ति ने जामा मस्जिद की वेदी पर से वाज़ किया। स्वामी जी ने ऋग्वेद के एक मन्त्र से अपना व्याख्यान आरम्भ किया और 'ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः' के साथ समाप्त किया। 6 अप्रैल को फतेहपुरी मस्जिद में भी स्वामी जी का भाषण हुआ।

छब्बीसवाँ परिच्छेद

पण्डित मोतीलाल नेहरू से भेंट

गत संस्मरण में बतला चुका हूँ कि रौलट एक्ट सम्बन्धी सत्याग्रह आन्दोलन ने भारत की राजनीति में नये युग को जन्म दिया। नये युग का जन्म कोई साधारण बात नहीं। राष्ट्र और विशेष रूप से भारत जैसे पुराने आहिस्ता चलने वाले राष्ट्र आसानी से करवट नहीं बदल सकते। उनकी नींद तोड़ने के लिए बहुत बड़ा शोर, बहुत अधिक झ़ज़कोरे और कभी-कभी नुकीले औज़ारों की नोंक-झोंक तक आवश्यक होती है। भारत जैसे पराधीन देश की नींद को तोड़ना और उसकी राजनीतिक करवट को बदलना भी बहुत बड़े प्रयत्न का काम था, जिसे शक्तिशाली ब्रिटिश सरकार के सिवा कोई नहीं कर सकता था। इतिहास पुकार-पुकार कर कहेगा कि 1919 में जो राजनैतिक युग में परिवर्तन हुआ, उसका श्रेय सबसे अधिक उसकी अंग्रेज़ी सरकार के गधेपन को है। गधेपन से मेरा अभिप्राय यह है कि उस समय सरकार को जो कुछ करना चाहिए था, वह उसने नहीं किया, और किया भी तो तब किया, जब चिड़ियाँ खेत को चुग चुकी थीं, और जो नहीं करना चाहिए था, वह बड़ी फुर्ती से फौरन से पेश्तर कर दिखाया। अत्याचारी की भूलों से ही अत्याचार-पीड़ितों का उद्धार हुआ करता है। उस समय की अंग्रेज़ी और भारतीय सरकार एक बार ठीक रास्ते से चूक कर ऐसी बौखलाई कि हर कदम पर चूकती चली गई, जैसे कुतुबखाने की ऊपरली सीढ़ी से फिसलना आरम्भ करके हुमायूँ सबसे निचली मौत की मंजिल तक फिसलता चला गया था। उसी प्रकार सरकार भी एक बार मार्गभ्रष्ट होकर तब तक ठीक मार्ग पर नहीं आई, जब तक भारत ने करवट नहीं बदली।

रौलट एक्ट के विरोध में महात्मा गाँधी ने सत्याग्रह की घोषणा कर दी। प्रारम्भिक कदम के तौर पर जो देशव्यापी हड़ताल हुई, भिन्न-भिन्न प्रान्तों की सरकारों ने उस पर अपने-अपने ढंग से प्रहार किया। पंजाब के गवर्नर सर माइकल ओडवायर की सरकार ने सत्याग्रह पर लाठी और गोली से प्रहार किया, जिस का उग्र रूप जलियाँवाला बाग के हत्याकाण्ड और मार्शल ला के आकार में प्रकट हुआ। ब्रिटिश टाइगर अपने असली नग्न रूप में संसार के सामने आ गया। पंजाब पर ऐसे अत्याचार हुए, जैसे इतिहास में पढ़े थे, परन्तु कभी विश्वास नहीं किया था और समझा था कि यह केवल अतिशयोक्ति-मात्र है। कुछ समय तक तो पंजाब के सम्बन्ध में फाँसीघर की

सी निस्तब्धता बनी रही। प्रान्त पर सेन्सरशिप का पर्दा डालकर मार्शल ला के नाम पर जो भीषण अन्याय किए गए, उनका देश को और संसार को तब पता चला, जब लोकमत से प्रभावित होकर सरकार को सेन्सरशिप का प्रतिबन्ध हटा लेना पड़ा। पर्दे के हटने पर संसार ने देखा कि सभ्यताभिमानी ब्रिटेन के प्रतिनिधियों ने पंजाब में जो राक्षसी लीला की है, उसने नीरो और चंगेज़ खाँ की स्मृतियों को भी मात कर दिया है। देश-भर में हाहाकार सा मच गया। पंजाब की दशा को देखने और उसके आघातों पर मरहम लगाने के लिए देश के हर एक प्रान्त से देशभक्त पंजाब के लिए रवाना होने लगे। उन देशभक्तों में से विशेष रूप से स्मरणीय देशबन्धु चितरञ्जनदास, पण्डित मोतीलाल नेहरू, स्वामी श्रद्धानन्द जी और पण्डित मदनमोहन मालवीय जी थे। पहले दोनों महानुभाव मार्शल ला की तहकीकात के सम्बन्ध में और शेष दोनों महानुभाव मार्शल ला द्वारा आहतों और पीड़ितों की सहायता के लिए पंजाब पहुँचे। इस प्रसंग में इन तथा इनके अन्य सहायक देशभक्तों ने जो अनुपम सेवाएँ कीं, उनके विस्तार से लिखने का यह स्थान नहीं है। वे सेवाएँ भारत के राजनैतिक इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखी जा चुकी हैं। मैंने तो यह चित्रपट इसलिए सामने रखा है कि मैं तत्सम्बन्धी उस चित्र को अङ्कित कर सकूँ, जो मेरी स्मृति में खूब उज्ज्वल रूप से विद्यमान है।

पिताजी के पास पण्डित मोतीलाल नेहरू का इस आशय का पत्र आया कि मैं मार्शल ला की घटनाओं की तहकीकाती कमेटी में भाग लेने के लिए लाहौर जा रहा हूँ। आप पंजाब में सेवा का कार्य करके अभी आये हैं। इलाहाबाद से लाहौर जाता हुआ दिल्ली में आपसे मिलकर जाऊँगा। पत्र में अपने दिल्ली पहुँचने की तारीख और पिताजी के निवास-स्थान पर पहुँचने का निश्चित समय भी दिया हुआ था। निश्चित और विधिपूर्वक कार्य करने की यह प्रवृत्ति पूज्य नेहरू जी के चरित्र का एक अंग थी।

मुझे नेहरू जी के समीप दर्शनों की बड़ी लालसा थी। उन्हें एक बार पटना की कांग्रेस में दूर से देखा था। तब आप माडरेट (नरम) विचारों के धनी नेता समझे जाते थे। उस समय मैंने नेहरू-परिवार को इलाहाबाद से रेल द्वारा पटना जाते हुए देखा था। पहले दर्जे का पूरा डिब्बा रिज़र्व कराया गया था। पूरे विलायती वेश में दोनों नेहरू (पिता और पुत्र) जब प्लेटफार्म पर पहुँचे, तो स्टेशन पर काफी सनसनी सी फैल गई थी। नेहरू जी के धन और आनन्द भवन की ख्याति चारों ओर फैल चुकी थीं। यह भी चर्चा पूरे जोर पर थी कि उनके लड़के विलायत से बैरिस्टर बनकर आये हैं, ये भी हाईकोर्ट में प्रैक्टिस करेंगे। दोनों नेहरूओं के साथ अन्य भी दो-तीन व्यक्ति थे, जो रुप-रंग और वेशभूषा से नेहरू-परिवार के ही सदस्य माने जा रहे

थे। वह नेहरू परिवार का ठाठ था, जिसे साधारण जनता उत्सुकता से देख रही थी।

उसके पश्चात् यह पहला अवसर था, जब मुझे नेहरू जी के दर्शनों का सौभाग्य प्राप्त करने की आशा हुई। मैंने पिताजी से निवेदन किया कि मैं नेहरू जी के आप के स्थान पर आने के समय कुछ देर के लिए उपस्थित रहना चाहता हूँ आपकी बातचीत आरम्भ हो जाने पर चला जाऊँगा। पिताजी ने स्वीकार कर लिया।

वह दृश्य मुझे पूरी तरह याद है। प्रातःकाल के दस बजे का समय होगा, जब पण्डित जी पिताजी के निवास-स्थान पर पहुँचे। जब वे सीढ़ियों से ऊपर पहुँचे तो उनके रूप की पहली झाँकी दिखाई दी। अभी वे कोट-पैण्ट और हैट के वेश से निकले नहीं थे। शानदार सफेद मूँछे उनके सुन्दर कश्मीरी चेहरे पर खूब सज रही थीं और उनकी शान को बढ़ा रही थीं। पिताजी उनका स्वागत करने के लिए कमरे से बाहर आये। उस समय जो परिस्थिति उत्पन्न हुई, वह वस्तुतः बहुत ही मनोरंजक थी। इसमें थोड़ा अभिनय का सा रंग भी आ गया था। पिताजी ने बाहर आकर पण्डित जी पर नज़र पड़ते ही आश्चर्य से कहा—"हैं, तुम हो!" पण्डित जी ने भी पिताजी की तरफ ध्यान से देखकर कहा—"अरे, तुम हो!" मैं आश्चर्य में आ गया। दोनों ने खूब कसकर हाथ मिलाये। पिताजी ने कहा "मैं अब तक नहीं जानता था कि पण्डित मोतीलाल नेहरू तुम ही हो।" पण्डित जी ने उत्तर दिया—"मैं भी अब तक नहीं समझता था कि महात्मा मुन्शीराम और स्वामी श्रद्धानन्द तुम ही हो।" इसके पीछे थोड़ी देर के लिए दोनों बुजुर्ग अपनी आयु, ऊँची परिस्थिति और शायद मेरी उपस्थिति को भूल गए और पुराने कालेज के समय में वापिस चले गए। एक ने दूसरे से कहा—"तुम तब भी बहुत नटखट थे।" दूसरे ने उत्तर दिया—"तुम्हारी तब भी यही आदत थी।" किसने किस से क्या कहा, यह याद नहीं आ रहा, सारी बातचीत से थोड़ी देर में मेरी समझ में आ गया कि कालेज में पढ़ने के समय दोनों बुजुर्ग इलाहाबाद में सहपाठी थे, दोनों सैलानी तबीयत के थे और किताबों के कीड़े नहीं थे।

इतना परिचय प्राप्त करके और दर्शनों से सन्तुष्ट होकर मैं चुपके से वहाँ से उठ गया। दोनों में लगभग दो-तीन घण्टे तक बातचीत होती रही।

सत्ताईसवाँ परिच्छेद

अमृतसर में नये युग का जन्म

1919 के अन्त में अमृतसर में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसने देश की राजनीति में युग-परिवर्तन कर दिया था। उन चार-पाँच दिनों में भारत में तिलक-युग का अन्त और गाँधी-युग का आरम्भ हुआ। मैं इसे अपना सौभाग्य समझता हूँ कि मुझे उस युग परिवर्तन के महान् दृश्य को साक्षात् देखने का अवसर मिला। मैंने वहाँ जो कुछ देखा, उसे यथासंभव ठीक-ठीक अङ्कित करने का यत्न करता हूँ।

कांग्रेस का वह अधिवेशन बड़ा महत्त्वपूर्ण था। वह अधिवेशन उस समय किया गया था, जब पंजाब के वक्षःस्थल पर मार्शल ला की संगीनों द्वारा किए हुए घाव हरे थे, और जनरल डायर के हुक्म से जलियाँवाला बाग में चलाई गई बन्दूकों की प्रतिध्वनि अभी शान्त नहीं हुई थी। उस समय देश के तीव्र विक्षोभ और क्रोध को प्रकट करने के लिए अमृतसर में राष्ट्रीय महासभा का बृहद् अधिवेशन बुलाया गया था। उसके स्वागताध्यक्ष और सभापति क्रमशः युवाकाल के पुराने सहपाठी स्वामी श्रद्धानन्द जी और पण्डित मोतीलाल जी नेहरू नियुक्त हुए थे। जब यह निश्चय किया गया कि कांग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में हो, तब सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह खड़ा हुआ कि उसके प्रबन्ध की जिम्मेवारी कौन ले। समय की कमी और कार्य की कठिनाईयों को देखकर कांग्रेस के अन्य कार्यकर्त्ता घबरा रहे थे। अन्त में स्वामी जी के पास दिल्ली में एक सन्देश भेजकर यह पूछा गया कि क्या आप इस भारी उत्तरदायित्व को उठा सकेंगे ? स्वामी जी ने अपनी प्रकृति के अनुसार उत्तर दिया कि यदि यह उत्तरदायित्व मुझ पर डाला जाएगा तो मैं उसे अवश्य उठा लूंगा।

मार्शल ला की सब घटनाओं की जिस कमेटी ने छानबीन की थी, पण्डित मोतीलाल जी उसके अध्यक्ष थे। कानूनी और नैतिक योग्यता की दृष्टि से उनसे बढ़िया अध्यक्ष मिलना कठिन था। इस कारण वह बृहद् अधिवेशन के सभापति निर्वाचित किए गएं।

मैं अधिवेशन से कई दिन पूर्व ही अमृतसर पहुँच गया था, जिससे मुझे वहाँ की घटनाओं को आदि से अन्त तक देखने का अवसर मिला। भारत के प्रत्येक कोने से प्रतिनिधियों का आगमन कई सप्ताह पहले से ही आरम्भ हो गया था। मद्रास और आसाम जैसे दूरवर्ती प्रान्तों से पंजाब की दशा को आंखों

से देखने और सहानुभूति प्रकट करने के लिए देश के प्रतिनिधि बड़ी उत्सुकता से अमृतसर आ रहे थे। उनमें से कुछ प्रमुख व्यक्तियों को मैंने पहली बार देखा था। उनके प्रथम दर्शन के समय मेरे मन पर जो प्रभाव पड़ा, वह मैं स्मृति के कोष में से निकालकर यहाँ रखने का यत्न करता हूँ। देशबन्धु चितरञ्जनदास के मैंने वहाँ प्रथम बार दर्शन किये। मैं स्वागत का प्रबन्ध-कार्य कर रहा था। दिसम्बर का महीना था। आकाश में बादल घिर रहे थे और ठण्डी-ठण्डी डर पैदा करने वाली हवा चल रही थी। बेचारे मद्रास, बंगाल और गुजरात जैसे समशीतोष्ण प्रान्तों के प्रतिनिधि बड़ी मुसीबत में पड़ गए। सर्दी से बचाने के लिए उन्हें धर्मशालाओं और पक्के मकानों में ठहराया गया था, तो भी वे सर्दी से परेशान थे। उनके पास जब भी स्वयंसेवक जाते, तब यही शिकायती वाक्य सुनाई देता—"यहाँ तो बड़ा शीत है।" ऐसे वातावरण में हम लोग प्रात:काल नौ बजे के लगभग बंगाल के प्रतिनिधियों के डेरों पर गए। यह समाचार मिल चुका था कि बंगाल से दास बाबू आये हैं। मैं बड़ी उत्सुकता से उस कमरे में पहुँचा, जिसमें कुछ अन्य प्रतिनिधियों के साथ दास बाबू ठहरे हुए थे। वहाँ जाकर जो दृश्य देखा, वह इस प्रकार था—कमरे में कोई सात-आठ पलंग बिछे हुए थे, जिन पर सब लोग कम्बल, लोई, रज़ाई आदि सब प्राप्तव्य कपड़ों में लिपटे हुए बैठे थे। दास बाबू उनके केन्द्र बने हुए थे। उनके पलंग के पास एक बड़ा पेचवान हुक्का रखा हुआ था, जिस की नली उनके मुँह में थी। अन्य बंगाली प्रतिनिधि भी हुक्के या सिगार से अपने शरीर को गर्म कर रहे थे। उधर कमरे में घुसते ही प्रतीत हो गया कि किसी गहरे विषय पर बंगाली जोश-खरोश के साथ बहस हो रही है, जिससे कमरा आग के धुएँ और शब्दों के धारा-प्रवाह से लबालब भरा हुआ था। अन्दर जाने पर शीघ्र ही मालूम हो गया कि दास बाबू के विधिपूर्वक सभापतित्व में बंगाल के कुछ प्रतिनिधि कांग्रेस के सामने आने वाले मुख्य प्रस्ताव पर बहस कर रहे थे। देशबन्धु दास के पास श्रीयुत विपिनचन्द्र पाल भी बैठे हुए थे। उस समय की बातचीत से हम इस परिणाम पर पहुँचे कि दास महोदय कांग्रेस में आने वाले प्रस्ताव और उस पर पेश होने वाले संशोधन के ठण्डेपन से बहुत असन्तुष्ट थे। वे उसे माडरेट, दब्बू आदि विशेषणों से विभूषित कर रहे थे। उनका विशाल चेहरा, उससे भी विशाल माथा और हर बात में प्रकट होने वाली प्रतिभा उन्हें अनायास ही बंगाल के प्रतिनिधियों का नेता बना रही थी। इसके पश्चात् भी मुझे उस महापुरुष के दर्शनों का कई बार सौभाग्य मिला। मुझ पर उनके व्यक्तित्व की विशालता का जो पहला प्रभाव पड़ा, वह बढ़ता ही गया। अमृतसर में मुझे पहली और अन्तिम बार मद्रास के प्रसिद्ध दैनिक हिन्दू के सम्पादक श्री कस्तूरीरंगा आयंगर को देखने का अवसर मिला। वे पूरे कांग्रेसी नहीं थे। इसका अभिप्राय यह है कि वे

क्रियात्मक रूप से कांग्रेस के प्रत्येक निश्चय से अपने को बंधा हुआ नहीं मानते थे। वे एक आदर्श पत्रकार थे। सम्मति बनाने और उसके प्रकट करने में अपने को सर्वथा स्वतन्त्र रखते थे। साथ ही यह सर्वसम्मत बात है कि उनका दृष्टिकोण पूरी तरह राष्ट्रीय था। वे एक सम्पादक की हैसियत से मार्शल ला सम्बन्धी सीधा अध्ययन करने और कांग्रेस की प्रगति का स्वयं निरीक्षण करने के लिए अमृतसर पहुँचे थे। उनसे मुझे पत्रकार-कला के सम्बन्ध में बहुत गहरी प्रेरणा मिली।

इस अधिवेशन में देशवासियों ने पहली बार सार्वजनिक रूप से पूरे नेहरू-परिवार को देखा। कांग्रेस के मंच पर श्रीमती स्वरूपरानी नेहरू, श्रीमती कमला नेहरू, कुमारी विजयलक्ष्मी नेहरू, कुमारी कृष्णा नेहरू पर दृष्टि पड़ते ही प्रत्येक दर्शक पूछने के लिए बाधित हो रहा था—यह कौन सा राजपरिवार आया है। विशुद्ध कश्मीरी रूप-रंग, राजसी वेशभूषा और नेहरू परिवार की स्वाभाविक शान ने उस समय उस परिवार को सम्पूर्ण पण्डाल की दृष्टियों का केन्द्र सा बना लिया था।

अब मैं उस महान् राष्ट्रीय रंगमंच के प्रधान पात्रों—लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी की ओर आता हूँ। अमृतसर की कांग्रेस में ये दोनों महान् व्यक्ति अपनी पूरी कलाओं के साथ आये थे। भेद-इतना ही था कि लोकमान्य तिलक अपनी आयु की पूर्णिमा को पार कर चुके थे और महात्मा गाँधी पूर्णिमा की ओर प्रयाण कर रहे थे। दोनों भारत के भाग्य-विधाता व्यक्तियों में जो मतभेद था, उसे सब विवेकशील लोग जानते थे। यूँ तो दोनों ही आदर्शवाद के पुजारी थे, परन्तु जहाँ लोकमान्य तिलक अपने आदर्श की प्राप्ति में व्यावहारिक नीति के प्रयोग को उचित मानते थे, वहाँ महात्मा गाँधी इस दावे के साथ राजनीति के क्षेत्र में अवतीर्ण हुए थे कि वे भारत की स्वाधीनता के ऊँचे आदर्श को सत्य और अहिंसा के धार्मिक आदर्शों द्वारा प्राप्त करने का मार्ग बतलायेंगे।

अमृतसर की कांग्रेस से पूर्व प्रतीत होता था कि पंजाब के सम्बन्ध में सारा देश एकमत हो जाएगा, परन्तु अधिवेशन से दो दिन पूर्व जब प्रतिनिधि लोग अपने-अपने स्थानों से अमृतसर के लिए रेल द्वारा रवाना हो चुके थे, तब ब्रिटिश सरकार ने सम्राट् के वक्तव्य के रूप में फूट का एक बीज राजनैतिक क्षेत्र में फेंक दिया। यह साम्राज्यवादी सरकारों का पुराना हथकण्डा है। इस घोषणा में वे सुन्दर वायदे दोहराये गए थे, जो पिछली सदी से इंग्लैण्ड के बादशाह हिन्दुस्तानियों से करते रहे और जिनके आधार पर हिन्दुस्तान में वह मुहावरा-सा बन गया है कि वायदे तोड़ने के लिए ही किए जाते हैं। घोषणापत्र में भारतवासियों को विश्वास दिलाया गया कि सम्राट् उन्हें स्वराज्य

देना चाहते हैं, पर देंगे धीरे-धीरे। स्वराज्य की पहली किस्त के तौर पर मार्शल ला के कुछ एक कैदी जेल से छोड़ देने की सूचना भी सरकार की ओर से सम्राट् की घोषणा के साथ ही दे दी गई। कांग्रेस के घर में विचारों की फूट पैदा करने के लिए सरकार का यह हथकण्डा सफल सिद्ध हुआ। कांग्रेस तीन भागों में विभक्त हो गई। सम्राट् की घोषणा का महात्मा गाँधी पर यह असर हुआ कि वे उस घोषणा का स्वागत करने और सरकार से सहयोग करने के लिए उद्यत हो गए। लोकमान्य तिलक ने रेल में जो वक्तव्य दिया, उसमें प्रतियोगी सहयोग (रिस्पेन्सिव कोओपरेशन) का समर्थन किया। उनका पक्ष यह था कि सरकार सहयोग का जितना हाथ बढ़ाये, उतना ही हम भी बढ़ावें। तीसरा दल उन लोगों का था, जो सम्राट् की घोषणा को केवल एक धोखा समझते थे, और उसके आधार पर सरकार के प्रति अपने असन्तोष को कम नहीं करना चाहते थे, और न ही विरोधी रुख को बदलना चाहते थे। उस दल के नेता देशबन्धु दास थे।

अमृतसर में नेताओं के पहुँचने पर मुख्य प्रस्ताव के सम्बन्ध में मतभेदों की चर्चा ने शीघ्र ही उग्र रूप धारण कर लिया। तीन केन्द्रों में तेज़ी से मोर्चाबन्दी शुरू हो गई। बीच-बचाव करने के लिए जो व्यक्ति कार्य कर रहे थे, उन में तीन प्रमुख थे—श्रीमती एनीबीसेण्ट, पण्डित मदनमोहन मालवीय और स्वागताध्यक्ष की हैसियत से पिता जी।

अट्ठाईसवाँ परिच्छेद

लोकमान्य तिलक का जुलूस और गाँधी–युग का जन्म

तीनों में से कौन सा पक्ष जीतेगा, प्रारम्भ में यह बात संदिग्ध सी मालूम होती थी, परन्तु कांग्रेस अधिवेशन से एक–दो दिन पूर्व जब अमृतसर के बाज़ारों में लोकमान्य तिलक का जुलूस निकला, तब कम से कम मेरे मन में कोई सन्देह बाकी न रहा। मैंने जुलूस तो सैकड़ों देखे परन्तु उतना असली जोश और जीवित उत्साह मुझे शायद ही किसी में मिला हो। लगभग चालीस वर्ष के बलिदानमय जीवन ने तिलक महाराज का भारवासियों के हृदय में वह स्थान बना दिया था, जो पुराने देवी–देवताओं का बन जाएा करता है। बहुत से पंजाबियों ने इससे पूर्व लोकमान्य तिलक के दर्शन भी न किए थे। वे यह तो जानते थे कि तिलक नाम का एक स्वाधीनता का देवता है, जिसकी पूजा करनी चाहिए। उन्हें दर्शनों का पहला अवसर मिला था। पूजा का यह दुर्लभ अवसर पाकर उनके वर्षों से भरे हुए अरमान फूट पड़े थे। बाज़ारों में नरमुण्ड ही नरमुण्ड दिखाई देते थे। हरेक व्यक्ति 'तिलक महाराज की जय' के नारों से आकाश फोड़ रहा था। पण्डित नेकीराम जी शर्मा को उस जुलूस में मैंने पहली बार देखा। ऐसा याद आता है—पण्डित जी तिलक महाराज की गाड़ी पर किसी जगह खड़े होकर अपने मेघ गम्भीर स्वर से तिलक महाराज की जय के नारे स्वयं लगा रहे थे और जनता से लगवा रहे थे। उस जुलूस ने कांग्रेस के अन्य सब कार्यक्रम को मात दे दी थी। उस समय मेरे और मुझ जैसे सैकड़ों दर्शकों को यह निश्चय सा हो गया था कि कांग्रेस के अधिवेशन में तिलक महाराज के सामने कोई नेता न ठहर सकेगा। जो प्रस्ताव वे पेश करेंगे, वही स्वीकार किया जाएगा।

लोकमान्य तिलक के उस जुलूस की अनेक स्मरणीय चीज़ों में से एक विशेष चीज़ स्वयं लोकमान्य की गम्भीर मुद्रा थी, जो प्रत्येक बारीकी से देखने वाले दर्शक पर प्रभाव उत्पन्न करती थी। चारों ओर कोलाहल का तूफान उमड़ रहा था। फूलों और मालाओं से गाड़ी भर गई थी। स्थान–स्थान पर गाड़ी रोककर आरती की जा रही थी और भक्त लोग तरह–तरह की भेंट देकर भक्ति का प्रदर्शन कर रहे थे। चारों ओर यह सब कुछ था, परन्तु लोकमान्य तिलक की मूर्ति मानो निश्चल होकर बैठी थी। जनता के कोलाहल से उनके

चेहरे पर न विक्षोभ की झलक दिखाई देती थी और जनता के सत्कार-प्रदर्शन से होठों पर न मुस्कराहट दौड़ती थी। उनके गम्भीर तेजस्वी नेत्र और स्थिर-निश्चल होंठ न तूफान में हिलते थे और न प्रभात के पवन से खिलते थे। उनमें मातृभमि की पराधीनता की भावना मानो फौलाद बनकर बैठ गई थी। जब उन्हें माण्डले की जेल में अपनी जीवनसंगिनी पत्नी की मृत्यु का समाचार मिला, तब उनके आँसू नहीं निकले, इस पर उनसे किसी ने पूछा—"ऐसे दुःखद समाचार से आपके आँसू क्यों नहीं निकले?" इस प्रश्न का लोकमान्य ने चिरस्मरणीय उत्तर दिया था—"मेरे पास बहाने के लिए कोई आँसू नहीं बचे, मैं उन सबको अपनी मातृभूमि के लिए बहा चुका हूँ।" प्रतीत होता है, वे आँसू अपने साथ होंठों की मुस्कराहट को भी बहा ले गए थे। सार्वजनिक रूप में तिलक महाराज के पास न आँसू थे और न मुस्कराहट। वहाँ थी केवल कठोर कर्तव्य की भावना, जिसका पालन करने में वे कभी एक क्षण के लिए भी नहीं हिचकिचाये। लोकमान्य तिलक का चेहरा एक क्रान्तिकारी का आदर्श चेहरा था। वहाँ प्रिय-अप्रिय की कोई भावना नहीं थी। केवल धर्म के पालन की दृढ़ प्रतिज्ञा थी। कांग्रेस के मंच पर वैसा दृढ़ क्रान्तिकारी चेहरा न उन दिनों दिखाई देता था, और न अब तक दिखाई दिया है। उसकी थोड़ी सी झलक सरदार वल्लभभाई पटेल के चेहरे पर दिखाई देती थी।

मैं इससे पूर्व बतला आया हूँ कि कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव के सम्बन्ध में नेताओं के तीन मत थे। गर्म दल (जिसके नेता श्री विपिनचन्द्र और श्री चितरंजनदास समझे जाते थे) इस पक्ष में थे कि सम्राट् की घोषणा की उपेक्षा की जाए और सरकार के अत्याचारों की उसी प्रकार निन्दा की जाए, जैसे उस घोषणा के अभाव में की जाती। महात्मा गाँधी चाहते थे कि सम्राट् की घोषणा में सरकार की बदली हुई नीति का स्वागत किया जाए और साथ ही सरकार के किए हुए दमन की निन्दा की जाए। महात्मा जी कांग्रेस में इस भावना को लाना चाहते थे कि शत्रु के साथ भी उदारता का व्यवहार करना चाहिए। लोकमान्य तिलक का मत दोनों के मध्य में था। वे नहीं चाहते थे कि सम्राट् की घोषणा या मार्शल ला के कुछ कैदियों की रिहाई पर स्वागत या हर्ष का सूचक कोई प्रस्ताव स्वीकार किया जाए। उनका कहना था कि यह तो सरकार की चाल है, इसमें कोई सार नहीं है। वह 'जैसा को तैसा' इस सिद्धान्त को मानने वाले थे। उसका नाम उन्होंने 'प्रतियोगी-सहयोग' रखा था।

प्रारम्भ के दो-तीन दिनों तक मध्यस्थों द्वारा यह यत्न होता रहा कि कोई सर्वसम्मत प्रस्ताव बन जाए, परन्तु सब अपनी-अपनी बात पर अड़े हुए थे, इन कारण सफलता नहीं हो रही थी। इसी बीच में प्रकृति ने उग्र रूप

धारण करके मानवीय वातावरण की गर्मी पर ठण्डा पानी डांल दिया। बड़े जोर के बादल घिर आये और वस्तुतः मूसलाधार वर्षा हुई। खुले अधिवेशन के लिए जो पण्डाल बना था, उसमें ठीक अधिवेशन से पहली रात के समय कमर-कमर तक पानी भर गया था। पंजाब की भूमि और कई दिन तक निरन्तर वर्षा—पंजाब से बाहर के लोगों के लिए मौसम असह्य हो गया। कम्बल और अँगीठी की पूरी सहायता होने पर भी बेचारे प्रतिनिधियों के दाँत बजते थे। इस उग्र सर्दी के कारण अधिवेशन भी एक-दो दिन के लिए रोक देना पड़ा। इतने समय में मतभेदों की गर्मी काफी शान्त हो गई और जब अन्त में गीले पण्डाल में चटाइयों पर बैठकर देश के प्रतिनिधियों ने मुख्य प्रस्ताव पर विचार आरम्भ किया तो उन्हें यह देखकर हर्ष हुआ कि नेताओं का मतभेद प्रकाशित तो हुआ, परन्तु बहुत नरम रूप में और वह भी शीघ्र ही मिट गया। कांग्रेस ने जो प्रस्ताव स्वीकार किया, उसमें सम्राट् की घोषणा का स्वागत किया गया था और साथ ही पंजाब पर हुए अत्याचारों की निन्दा की गई थी। उस प्रस्ताव को लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी के विचारों का समझौता कह सकते हैं।

मैंने पहले बताया है कि जनता और प्रतिनिधियों में लोकमान्य तिलक के व्यक्तित्व का प्रभाव अमृतसर में सबसे अधिक प्रतीत होता था। ऐसा समझा जाता था कि यदि वे अन्त तक अपनी बात पर अड़े रहते तो जीत उन्हीं की होती। यह सर्वसम्मत बात थी कि लोकमान्य तिलक अड़ने वाले आदमी थे। जीवन-भर उन्होंने विरोधी शक्तियों का सीधे खड़े होकर मुकाबला किया, कभी अणु-मात्र भी झुकने का नाम नहीं लिया। अमृतसर में पहली बार वे समझौते के लिए तैयार हो गए। यह देखकर लोकमान्य के कुछ शिष्यों को दुःख और आश्चर्य हुआ। वे लोग तिलक महाराज की सेवा में पहुँचे और जिज्ञासा की कि महाराज, आप समझौता क्यों करते हैं, खुले अधिवेशन में आपकी जीत निश्चित है। इस जिज्ञासा का लोकमान्य ने जो उत्तर दिया, उसके पूरे शब्द तो मुझे याद नहीं, परन्तु अभिप्राय मेरे हृदय पर बड़ी स्पष्टता से अङ्कित है। आपने जो कुछ कहा, उसका अभिप्राय यह था—'मैं अब शारीरिक दृष्टि से वृद्ध हो गया हूँ। मुझे जो कुछ कहना था, वह कह चुका हूँ। अब आवश्यक है कि देश का नेतृत्व दूसरे हाथों में जाए। वह व्यक्ति, जिसके हाथों में मुझे नेतृत्व सँभालने की शक्ति दिखाई देती है, वह गाँधी है। इसी कारण मैंने गाँधी का संशोधन स्वीकार कर लिया है। देश की बागडोर अब उसी के हाथ में जाएगी।'

उस समय लोकमान्य के उस कथन से उनके भक्तों का पूरा सन्तोष नहीं हुआ था, परन्तु समय ने बतलाया कि लोकमान्य तिलक को उनके भक्त

जितना बड़ा समझते थे, वे उससे बहुत बड़े थे। वे महान् भी थे और भविष्यदर्शी भी। जब खुले पण्डाल में लोकमान्य के तथा महात्मा गाँधी जी के भाषणों के पश्चात् प्रस्ताव स्वीकार हुआ, तब सारा पण्डाल महात्मा गाँधी की जय के नारों से गूँज उठा। उस जयनाद के कोलाहल में कांग्रेस का एक युग समाप्त हो रहा था और दूसरा युग जन्म ले रहा था। तिलक–युग पर विरामचिह्न लग रहा था और गाँधी युग प्रारम्भ हो रहा था।

उनतीसवाँ परिच्छेद

गाँधी जी डिक्टेटर बने

इस पुस्तक के पाठकों को यह पता चल चुका होगा कि मैं यहाँ न औरों का इतिहास लिख रहा हूँ और न अपना जीवन-चरित्र। मैं उन घटनाओं और व्यक्तियों के चित्रों को अङ्कित करने का यत्न कर रहा हूँ, जिनकी पृष्ठभूमि में मेरे पिताजी का न्यूनाधिक सम्पर्क विद्यमान हो। 1920-1923 तक का समय मेरे जीवन का घटनापूर्ण समय कहा जा सकता है, क्योंकि उसने मेरे जीवन-प्रवाह की दिशा को निश्चित किया; परन्तु मैं उन वर्षों की घटनाओं में से कुछ थोड़ी सी ऐसी घटनाओं का वर्णन करूँगा, जिन्होंने मेरे हृदय को विशेष रूप से प्रभावित किया और अपने रंग से रञ्जित किया।

1920 और 1921 के वर्ष सत्याग्रह आन्दोलन की तैयारी के वर्ष थे। वह आन्दोलन क्या रूप धारण करेगा, 1919 के प्रारम्भ में शायद महात्मा गाँधी जी को भी इसका पूर्ण रूप से पता नहीं था। अमृतसर की कांग्रेस में सरकार की ओर से भारतवासियों की इच्छाओं के प्रति सहानुभूमि का जो इशारा किया गया था, उसके बारे में कांग्रेस में मतभेद की बात मैं पहले कह आया हूँ। महात्मा जी को उसमें आशा की झलक दिखाई देती थी, परन्तु लोकमान्य तिलक और देशबन्धु दास आदि उसे केवल राजनीति की एक चाल समझते थे। मार्शल ला की तहकीकात और दमन द्वारा पीड़ितों को हर्जाना देने आदि के प्रश्नों पर जनता के सामने झुकने के लिए सरकार तैयार न हुई, जिससे महात्मा गाँधी जैसे उदार व्यक्ति को भी यह अनुभव होने लगा कि अमृतसर कांग्रेस पर सम्राट् की ओर से घोषणा प्रकाशित हुई थी, वह केवल एक चाल थी, उसमें कोई सार नहीं था। परिणाम यह हुआ कि उन लोगों के हृदय में सरकार के प्रति गहरी प्रतिक्रिया उत्पन्न हो गई। सत्याग्रह के आन्दोलन ने असहयोग का रूप धारण किया और पंजाब की दुर्घटनाओं के साथ स्वराज्य की मांग भी नत्थी कर दी गई।

क्रान्ति की देशव्यापी ज्वाला

इस समय अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओं से भारत के आन्दोलन को दैवी सहायता मिली। पहले यूरोपियन युद्ध में जर्मनी के साथ परास्त होने के कारण टर्की के सुलतान को खलीफा पद से वञ्चित कर दिया गया, जिससे भारत के मुसलमानों की धार्मिक भावना को बहुत भारी ठेस पहुँची और वे अंग्रेज़ी

सरकार से असन्तुष्ट हो गए। उस असन्तोष का परिणाम यह हुआ कि मौलाना शौकतअली, मौलाना महुम्मदअली और जमीयतउल्लमाए हिन्द के नेतृत्व में कांग्रेस ने मुसलमानों में खिलाफत का आन्दोलन आरम्भ किया। महात्मा गाँधी ने और उनके नेतृत्व में कांग्रेस ने मुसलमानों के खिलाफत आन्दोलन का समर्थन किया, जिसका परिणाम यह हुआ कि सरकार से कांग्रेस की जो मांग तक तक केवल पंजाब की शिकायतों के निवारण तक परिमित थी, उसमें खिलाफत भी जोड़ दी गई। इस आधार पर मुसलमान समूह रूप से कांग्रेस में शामिल होने लगे। हिन्दू-मुसलमानों के इस मेल ने असहयोग आन्दोलन को असाधारण बल प्रदान कर दिया। यदि यह घटनाचक्र इस प्रकार न चलता तो शायद कांग्रेस पर और देश की राजनीति पर महात्मा जी का पूरा अधिकार इतना शीघ्र न हो सकता; परन्तु भगवान् को भी अभीष्ट होता है, उसके साधन अकस्मात् ही पैदा हो जाते हैं। सरकार भी एक के पीछे दूसरी भूल करती गई और महात्मा जी एक चतुर कारीगर की तरह विरोधियों की हरेक भूल को अपने लिए उपयोगी बनाते गए। कलकत्ते के विशेष और नागपुर के वार्षिक कांग्रेस अधिवेशनों ने महात्मा गाँधी के द्वारा प्रस्तावित कार्यक्रम को पूरी तरह अपना लिया। 1921 वाँ वर्ष देश के लिए राजनीतिक इतिहास में स्मरणीय रहेगा। उससे देश के दृष्टिकोण में क्रान्ति पैदा हुई। उसी वर्ष इंगलैण्ड के युवराज की भारत-यात्रा के अवसर पर भारतवासियों की ओर से जैसा विरोधी प्रदर्शन हुआ, वैसा उससे एक वर्ष पूर्व कल्पना में भी नहीं आ सकता था। सरकार ने भी देशव्यापी दमन करके उस प्रदर्शन की विशालता को अंगीकार किया, जिससे असहयोग आन्दोलन को और भी अधिक पुष्टि मिली।

क्रान्ति से भरे हुए उन दो वर्षों का अति संक्षिप्त विवरण मैंने केवल इसलिए दिया है कि 1921 के अन्त में अहमदाबाद में कांग्रेस का जो अधिवेशन हुआ, उसके संस्मरणों को पाठकों के सन्मुख स्पष्टता से रख सकूँ। मैं उन वर्षों में राजनीतिक कार्यक्षेत्र से अलग सा हो गया था। गुरुकुल काँगड़ी से बुलाये जाने पर मैं वहाँ चला गया था। उन दिनों गुरुकुल में रहते हुए मैं देश की राजनीति से पूरी तरह परिचित रहने का यत्न करता रहा, परन्तु कार्यक्षेत्र से अलग रहा। अमृतसर की कांग्रेस के पश्चात् मैं अहमदाबाद की कांग्रेस में दर्शक-रूप में सम्मिलित हुआ। जैसे किसी मनुष्य के शारीरिक परिवर्तनों को हर रोज़ देखने वाले व्यक्ति की अपेक्षा वह व्यक्ति अधिक स्पष्टतों से अनुभव कर सकता है, जो उसे बहुत समय व्यतीत हो जाने पर देखे, उसी प्रकार उन दो वर्षों में कांग्रेस में जो आमूलचूल परिवर्तन हुआ, उसे मैं अधिक स्पष्टता से अनुभव कर सका, ऐसा मेरा विचार है।

अहमदाबाद की कांग्रेस

दिल्ली से अहमदाबाद के लिए रेल पर सवार होने के समय स्टेशन पर जो दृश्य देखा, वह बदले हुए राजनीतिक वातावरण का पहला चिह्न था। सारा स्टेशन चाँदी के समान चमकते हुए सफेद खद्दर पहनने वाले प्रतिनिधियों से भरा दिखाई देता था। सम्भवत: स्टेशन पर विद्यमान भीड़ में अन्य लोगों की संख्या अधिक हो, परन्तु यह एक मनोवैज्ञानिक सच्चाई है कि वेश की समानता संख्या को आँखों के लिए सौ गुणा कर देती है। नियन्त्रण में बंधे हुए दस आदमी अनियन्त्रित हज़ार आदमियों पर हावी हो जाते हैं। यह पहला वर्ष था, जब देश पर महात्मा जी के प्रभाव की सूचना दृष्टि-मात्र से मिलती थी। अहमदाबाद जाने वाले प्रतिनिधि, दर्शक और स्वयं सेवक सब खादी के वेश में थे। अहमदाबाद पहुँचकर तो खादी का साम्राज्य ही दिखाई देता था। शहर में जिधर जाओ, गाँधी टोपियों का बादल-सा उमड़ता दृष्टिगोचर होता था। महात्मा जी की नेतृत्व-शक्ति का यह सबसे प्रथम और स्थूल प्रमाण था। कोई सेना नहीं बन सकती, जब उसका नियत वेश न हो। भारत की राजनीति को महात्मा जी की यह सबसे प्रथम महत्त्वपूर्ण देन थी कि उन्होंने राष्ट्रीयता का एक वेश बना दिया। अहमदाबाद में वह एकता, जो वेश की एकता से प्रकट होती है, गली-कूचों में, राह जातों को भी दिखाई दे रही थी। उसका यह परिणाम स्वाभाविक ही था कि अन्य सब जयकारों को 'महात्मा गाँधी की जय' के नारों ने दबा दिया था। एक बार तो महात्मा जी की जयकार का नारा इतने ज़ोर से उठा कि उसने 'भारतमाता की जय' के निनाद को भी दबा दिया। अहमदाबाद की कांग्रेस में गाँधी-युग उठते हुए यौवन की दशा में दृष्टिगोचर हो रहा था। उस समय मुझे 1918 की कांग्रेस की याद आई। दिल्ली में उस अधिवेशन के समय मैं पत्रकारों में बैठा हुआ मंच की शोभा को देख रहा था। मंच पर जाने वाले नेताओं में मानो विलायती सूट की सुन्दरता की होड़ लगी हुई थी। एक से बढ़कर दूसरा महापुरुष साहिबी की दौड़ में आगे निकलने की कोशिश में था। जब नेता लोग मंच पर चढ़ते थे, तब उन के बूटों की चरचराहट सारे मण्डप में गूंज जाती थी। अहमदाबाद में वह सब बदल गया था। धनी और निर्धन, नेता और स्वयंसेवक, स्त्री और पुरुष सब खद्दर के सफेद वेश में शोभायमान थे। पैरों में सभी के चप्पल थीं। यह वेश की एकता राजनीति में महात्मा जी की प्रमुखता का पहला शानदार परिणाम था।

यह पहली कांग्रेस थी, जिसने जनता के मेले का रूप धारण किया। कांग्रेस के प्रतिनिधियों का एक मुख्य डेरा तो था ही, उसके अतिरिक्त कई उप-कैम्प भी थे। महात्मा जी का कैम्प सबसे अलग बनाया गया था। उसकी

व्यवस्था अन्य डेरों से अलग ही थी। उसके पश्चात् प्रत्येक ऐसी कांग्रेस में, जिसमें महात्मा जी सम्मिलित हुए, एक अलग महात्मा कैम्प बनाने की प्रथा का निरन्तर पालन किया गया।

इस कांग्रेस की एक बड़ी विशेषता यह थी कि मुसलमान समूह रूप से सम्मिलित हुए थे, क्योंकि खिलाफत को कांग्रेस के कार्यक्रम का एक भाग बना दिया गया था।

उन दिनों साधारण मुसलमान कांग्रेस को खिलाफत के नाम से ही पुकारते थे। हम लोगों को खद्दर पहने हुए देखकर मुसलमान ताँगेवाले प्रायः पूछा करते थे—"क्यों बाबू जी, क्या आप भी खिलाफत में काम कर रहे हैं ? सुना है, गाँधी जी भी आजकल खिलाफत में काम कर रहे हैं।" उस युग के मुसलमान कांग्रेस को खिलाफत का एक छोटा-सा सीगा (विभाग) समझते थे। नेताओं की बात दूसरी है। वे समझते तो ठीक होंगे, परन्तु शायद अपने मुसलमान अनुयायियों को बतलाते यही थे कि कांग्रेस खिलाफत में शामिल हो गई है। अहमदाबाद में मुसलमान उलमाओं और उनके अनुयायियों का अलग कैम्प था, जिसके द्वार पर अर्धचन्द्र वाला नीला झण्डा फहरा रहा था। मौलाना शौकतअली और मौलाना मुहम्मदअली कराची में पढ़े गए फतवे के अपराध में जेल में थे। उनकी अहमदाबाद में अनुपस्थिति ने मुसलमानों के जोश को और भी अधिक भड़का दिया।

हम लोग एक जुदा कैम्प में ठहरे थे, जिस के केन्द्र पिताजी थे। उसे आर्यसमाजी राष्ट्रवादियों का डेरा कहा जा सकता है। उस डेरे में सैकड़ों स्त्री-पुरुष ठहरे हुए थे। प्रतिदिन प्रातःकाल और सायंकाल विशेष व्याख्याताओं के व्याख्यान के लिए अन्य डेरों की भांति इस डेरे में भी प्रबन्ध था। दो व्याख्यान मुझे विशेष रूप से याद हैं। एक व्याख्यान पण्डित रामभजदत्त चौधरी का था। आप पंजाब के प्रसिद्ध आर्यसमाजी थे और हाल में ही राजनीति में प्रविष्ट हुए थे। दूसरा व्याख्यान श्री स्वामी सत्यदेव जी परिव्राजक का था। स्वामी जी को मैं अपने प्रारम्भिक राजनीतिक शिक्षकों में से मानता हूँ। उनकी मनुष्यों के अधिकारों पर लिखी हुई छोटी सी पुस्तिका ने बाल्यावस्था में मुझे बहुत प्रभावित किया था। स्वामी जी के राजनीतिक व्याख्यान सुनने का मुझे बहुत शौक था। मैंने उनका यह पहला राजनीतिक व्याख्यान सुना। मैं उनकी वक्तृत्व-शक्ति से बहुत प्रभावित हुआ। उनके व्याख्यान का निम्नलिखित हिस्सा अभी तक मुझे याद है—"लोग मुझसे पूछते हैं—स्वामी जी, आप सिर के बाल कब कटवायेंगे ? मैं उन्हें जवाब देता हूँ—अरे, ये तो सिंह की लटाएँ हैं ! ये तब तक नहीं कटेगी, जब तक हमारा देश स्वतन्त्र नहीं हो जाएगा। ये जेल में भी मेरे साथ ही जाएंगी।"

कांग्रेस का बृहद् अधिवेशन

अहमदाबाद के कांग्रेस अधिवेशन की कई विशेषतायें थीं। मुख्य मण्डप में से कुरसी और मेज़ को पहली बार देश निकाला दिया गया। मंच पर और नीचे चटाइयों के ऊपर चादरें बिछा दी गई थीं। यह इस बात का चिह्न था कि कांग्रेस कुछ श्रेणियों की न रहकर जनता की चीज़ हो गई। दूसरी विशेषता यह थी कि मण्डप में जिधर देखो, सफेद खद्दर ही खद्दर दिखाई देता था। मौलानाओं तक ने ऊँची-ऊँची खद्दरी टोपियाँ पहन रखी थीं। तीसरी विशेषता थी, सरदार वल्लभभाई पटेल के स्वागताध्यक्ष के पद पर से दिए गए भाषण की संक्षिप्तता। इससे पूर्व स्वागताध्यक्ष से यह आशा की जाती थी कि कांग्रेस के सभापति को जो कुछ कहना चाहिए, उसे स्वागताध्यक्ष पहले ही कह जाएगा। इस पिष्टपेषण से कांग्रेस का समय व्यर्थ में ही नष्ट होता था। सरदार वल्लभभाई पटेल ने अपना स्वागत-भाषण शायद पन्द्रह मिनट में ही समाप्त कर दिया। इन नवीनताओं से प्रतिनिधि लोग बहुत ही प्रसन्न हुए। सरदार के संक्षिप्त भाषण से उनके बारे में लोगों ने जो सम्मति बनाई, वह दो तरह की थी। सरदार का असली रूप अभी भारतवासियों के सामने नहीं आया था। कुछ ने कहा—महात्मा जी के अनुयायी होने के कारण ही इन्हें स्वागताध्यक्ष बनाया गया है। अपने भाई श्री विट्ठलभाई पटेल जैसी योग्यता इनमें नहीं है। बेचारे क्या बोलते! जो लोग सरदार से कुछ परिचित थे, उन्होंने यह समाधान किया कि वल्लभभाई कर्मप्रधान पुरुष है, वाणीप्रधान नहीं। ये कहते कम और करते अधिक हैं।

इस अधिवेशन के अध्यक्ष-पद के लिए देशबन्धु दास का चुनाव हुआ था। वे जेल में थे। उनके स्थान पर सभापतित्व करने के लिए हकीम अजमल खाँ साहब का निर्वाचन किया गया। हकीम साहब अंग्रेज़ी नहीं जानते थे। उन्होंने अपना प्रारम्भिक भाषण उर्दू में पढ़ा था, यह कांग्रेस की चौथी विशेषता थी।

अहमदाबाद कांग्रेस की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि इसके प्रथम और मुख्य प्रस्ताव द्वारा कांग्रेस के डिक्टेटर का कँटीला ताज महात्मा जी के सिर पर रखा गया और उससे भी विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि वह ताज महात्मा जी ने अपने हाथों से स्वयं अपने सिर पर रखा। इस घटना ने उस समय नेपोलियन की ताजपोशी का दृश्य याद करा दिया। जब सम्राट्-पद पर आरूढ़ होने के समय पोप ने नेपोलियन के सिर पर रखने के लिए ताज उठाया तो नेपोलियन ने हाथ बढ़ाकर उसे स्वयं अपने हाथों में लेकर सिर पर रख लिया। महात्मा जी ने वह प्रस्ताव स्वयं ही उपस्थित किया, जिसके द्वारा उन्हें कांग्रेस के सर्वाधिकार समर्पण किये गए थे। महात्मा जी

ने उस समय जो भाषण दिया, उसके शब्द मेरे कानों में अब भी गूँज रहे हैं। उन शब्दों का श्रोताओं पर जो अद्भुत प्रभाव हो रहा था, वह भी मुझे स्पष्ट रूप से याद है। महात्मा जी ने जो कुछ कहा, उसका अभिप्राय यह था—देश में स्वराज्य की उत्कृष्ट अभिलाषा पैदा हो गई है। देशवासियों को यह भी विश्वास हो गया कि उनकी इच्छा अहिंसात्मक लड़ाई द्वारा पूरी हो सकती है। मैं अहिंसात्मक लड़ाई का उद्भावक और आचार्य हूँ। यह भी सम्भावना है कि शीघ्र ही सरकार नेताओं की गिरफ्तारी करने वाली है, इन कारणों से मैं प्रस्ताव करता हूँ कि स्वराज्य की अहिंसात्मक लड़ाई चलाने के लिए मुझे डिक्टेटर के पूर्ण अधिकार दिये जाएँ और यह भी अधिकार दिया जाए कि मैं स्वयं अपने उत्तराधिकारी चुन सकूँ। मैं विश्वास रखता हूँ कि हम अहिंसात्मक भावना से स्वराज्य की लड़ाई लड़ सकेंगे। हम एक वर्ष के अन्दर-अन्दर स्वराज्य प्राप्त कर सकते हैं और भारत का सूर्यमण्डल में वहीं ऊँचा स्थान हो सकता है, जिसका वह अधिकारी है।

जिस समय महात्मा जी व्याख्यान दे रहे थे, श्रोता मानो मन्त्रमुग्ध हो रहे थे। आत्मविश्वास का जादू मैंने उस दिन देखा। मेरे पास मेरठ के एक वकील और एक धनी व्यक्ति बैठे थे। महात्मा जी के एक-एक शब्द पर मानो उनके खून में उबाल आता था। उफ और ओह—इस प्रकार के बेचैनी सूचित करने वाले शब्द बार-बार उनके मुँह से निकलते थे। वे मानो अनुमान कर रहे थे कि स्वराज्य उनकी ओर भगा चला आ रहा है और भारत संसार की चोटी पर बड़े वेग से चढ़ रहा है। महापुरुष का मैस्मरेज़म उनके चेहरे पर उग्र रूप में झलक रहा था। श्रोताओं में से अधिकांश की वैसी ही दशा थी। तब क्या आश्चर्य की बात थी कि वह प्रस्ताव जोश के उमड़ते हुए तूफान में महात्मा गाँधी की जय के नारों के बीच स्वीकार किया गया।

इस प्रकार अहमदाबाद कांग्रेस के मुख्य प्रस्ताव द्वारा देश में गाँधी-युग का पूर्ण अधिकार हो गया।

तीसवाँ परिच्छेद

स्वामी जी और लाला जी

पंजाब के दो शेर

जब मैं पिताजी और लाला लाजपतराय जी के परस्पर-सम्बन्ध के विषय में अपनी स्मृतियों को इकट्ठा करके देखता हूँ तो मुझे जंगल के दो शेरों की लोकोक्ति याद आती है। कहते हैं, एक जंगल में दो शेर नहीं रह सकते, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वे दूसरे की बहादुरी को भी पहिचानते नहीं। यह स्पष्ट है कि वे दूसरे की शक्ति को पहिचानते हैं, उसका आदर करते हैं और इसलिए साथ-साथ रहना पसन्द नहीं करते। वे जानते हैं कि दो राजा और दो शेर एक साथ नहीं रह सकते। यदि उनसे एक-दूसरे के विषय में राय पूछी जाए तो वे यही कहेंगे कि वह शेर है, और मैं भी शेर हूँ, हम दोनों एक जंगल में कैसे रह सकते हैं!

यह एक सर्वसम्मत सी बात है, और जिससे शायद कोई ही पंजाबी इनकार करे कि लाला जी और स्वामी जी अपने-अपने क्षेत्र में वीर सिपाहियों के वीर सेनापति थे। यही गुण था, जिसने उन्हें पंजाब का नेता बनाया। उन दोनों वीर नेताओं के पश्चात् पंजाब को वैसा नेतृत्व नहीं मिला। यही पंजाब के वर्तमान सार्वजनिक जीवन का सबसे बड़ा रोग है। जो पंजाबी सरकारी नेताओं की कमान में आकर ब्रिटिश साम्राजय के लिए पृथ्वी के कोने-कोने में लड़ाइयाँ लड़ते और वीरता के क्षेत्र में नाम पैदा करते थे, वही पंजाबी सिंह-सदृश सेनापतियों के अभाव में देश की राजनैतिक दौड़ में पिछड़ रहे हैं।

यह तो प्रसंगागत बात हुई। यहाँ तो मैं इतना ही कहना चाहता हूँ कि लाला जी और पिताजी में नेतृत्व की दृष्टि से इतनी अधिक समानता थी कि उन्हें निश्शंक होकर एक ही जंगल के दो शेर कहा जा सकता है। दोनों का कार्यक्षेत्र एक-सा रहा। दोनों एक-दूसरे के गुणों का आदर करते थे, परन्तु शायद ही कभी कोई ऐसा समय आया, जब दोनों ने एक ही संस्था में काम किया हो, एक ही व्याख्यान-वेदी पर व्याख्यान दिया हो अथवा एक आन्दोलन को इकट्ठे मिलकर चलाया हो। यदि कभी अकस्मात् ऐसा अवसर आ भी गया हो तो वह शीघ्र ही समाप्त हो गया। कभी देर तक नहीं चला।

आर्यसमाज के क्षेत्र में

दोनों महापुरुषों ने अपनें-अपने सार्वजनिक जीवन का आरम्भ

आर्यसमाज में किया। दोनों ही शुरू से एक महान् व्यक्ति लाला साँईंदास जी के प्रभाव में रहे। दोनों में जोश था, त्याग की भावना व निर्भयता थी और तर्क करने की शक्ति थी। दोनों ही अपने ढंग के प्रभावशाली वक्ता थे। यदि पंजाब की आर्यसमाजों में फूट न पड़ती या फूट पड़ने पर भी दोनों महापुरुष एक ही पक्ष में चले जाते तो आर्यसमाज का और साथ ही पंजाब का सार्वजनिक जीवन शायद दूसरी ही तरफ का होता, परन्तु दो शेर एक जंगल में न रह सके। पिताजी महात्मा पार्टी के नेता बने गए और लाला जी कालेज पार्टी के।

समय का प्रवाह बहता गया। लाला जी ने अपनी सारी शक्ति डी० ए० वी० कालेज के निर्माण में लगा दी और स्वामी जी ने सर्वमेधयज्ञ करके गुरुकुल विश्वविद्यालय खड़ा किया। लाला जी का केन्द्र-स्थान लाहौर था और स्वामी जी ने अपना केन्द्र हरिद्वार में बनाया। उस समय मैं बच्चा था। इस कारण दोनों महापुरुष एक-दूसरे के सम्बन्ध में क्या विचार रखते थे, निजू ज्ञान के आधार पर इस विषय पर कोई सम्मति नहीं दे सकता। मेरी सम्मतियों का सिलसिला उस समय से आरम्भ होता है, जब लाला जी राजनीति में प्रवेश कर चुके थे। मैं वहीं से इस सन्दर्भ को शुरू करता हूँ।

माण्डले की जेल में

लाला जी के और पिताजी परस्पर-सम्बन्ध का दूसरा परिच्छेद उस समय से आरम्भ होता है, जब सरकार ने लाला जी को गिरफ्तार करके नज़रबन्दी के लिए माण्डले के किले में भेज दिया था। लाला जी उस समय राजनीति के क्षेत्र में पूरी तरह जा चुके थे। सारा पंजाब उनके तपस्वी आभूषणों से हिल गया था। सरकार उस प्रकम्प को न सह सकी, उसने लाला जी को और कुछ अन्य नेताओं को पंजाब से बाहर जेलों में बन्द कर दिया।

इससे पूर्व लाला जी आर्यसमाज के एक प्रमुख कार्यकर्त्ता माने जाते थे। उनमें और आर्यसमाज में एकीभाव-सा हो रहा था। उनकी गिरफ्तारी का आर्यसमाज और आर्यसमाजियों पर बहुत असर पड़ा। सरकार आर्यसमाज को सन्देह की निगाह से देखने लगीं और आर्यसमाज अपने को सरकार का कोप-भाजन समझने लगी। डी० ए० वी० कालेज के लाला जी जीवनप्राण थे। उनकी गिरफ्तारी का सबसे पहला और ज़ोरदार असर डी० ए० वी० कालेज कमेटी पर पड़ा, जिसने गिरफ्तारी के कुछ ही दिनों के अन्दर इस आशय का ठहराव पास किया कि लाला जी की राजनैतिक हलचलों का आर्यसमाज और डी० ए० वी० कालेज से कोई सम्बन्ध नहीं है।

मैं इससे पूर्व बतला आया हूँ कि आर्यसमाज के कार्य-क्षेत्र में लाला जी और पिताजी प्रतिस्पर्धी के रूप में ही कार्य करते रहे। उस समय दोनों

एक--दूसरे के आलोचक थे। जब लाला जी ने राजनैतिक कार्य आरम्भ किया, तब भी परिस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। लाला जी को परमात्मा ने ऐसी शक्ति प्रदान की थी कि वह एक ही भाषण से जनता के हृदय पर अधिकार कर लेते थे। राजनीति में आने पर भी उन्हें लोगों के हृदयधिदेवता बनने में देर न लगी। लाहौर में उनका जुलूस निकाला गया, जिसमें जनता का जोश यहाँ तक बढ़ा कि लोगों ने गाड़ी के घोड़े खोल दिये और स्वयं गाड़ी को खींचा। उन दिनों की राजनीति से पिताजी असन्तुष्ट थे। वे उसे चरित्रहीन राजनीति कहा करते थे। उन्हीं दिनों के सद्धर्म-प्रचारक में पिताजी के राजनीतिक आन्दोलन के विषय में एक आलोचनात्मक लेखमाला है। अन्य घटनाओं के साथ गाड़ी के घोड़े खोलने वाली घटना का उल्लेख भी कड़ी आलोचना के साथ किया गया था। जब लाला जी गिरफ्तार हो गए, तब किसी को यह आशा नहीं थी कि उनका सबसे ज़बरदस्त समर्थन पिताजी की ओर से होगा। पुराने आर्यसमाजी आश्चर्य से आँखें मलने लगे। जब उन्होंने सिविल मिलिट्री गज़ट में पिताजी की लिखी हुई आर्यसमाज-सम्बन्धी लेखमाला पढ़ी (उस लेखमाला में पिताजी ने लाला जी की निष्कपट सफाई पेश की थी) तो साथियों की ओर से नहीं-नहीं और आलोचकों की ओर से हाँ-हाँ का व्यवहार देखकर लोग चकित होने लगे। परन्तु इसमें आश्चर्यित होने की कोई बात नहीं थी। जहाँ लाला जी के पहले के साथी बुद्धिप्रधान व्यक्ति थे, वहाँ पिताजी में बुद्धि और भावुकता का अद्भुत मेल था। दूसरे के दुःख को देखकर वे एकदम पसीज जाते थे। असली वीरता के सामने उनका सिर अनायास झुक जाता था। संस्कार रास्ते में रुकावट नहीं डाल सकते थे। जिस व्यक्ति का सारा जीवन विरोधी शक्तियों से सीधी टक्कर लेने में व्यतीत हुआ हो, उसके विषय में सुनकर पाठक आश्चर्यित होंगे कि किसी के दुःख की बात सुनते या कहते हुए उनका गला भर आया करता था और आँखों में आँसू झलक आते थे। ऊँचे स्वर से पुस्तक अथवा पत्र पढ़ते हुए करुणा या वीरता की मार्मिक बात आते ही उनका पढ़ना रुक जाता था। सुनने वाले अनुभव कर लेते थे कि उनका हृदय भर आया है। लाला जी की गिरफ्तारी का भी उन पर ऐसा ही असर हुआ। अब वे लाला जी को एक घायल सेनापति के रूप में देख रहे थे। उनके हृदय से विरोध के भाव दूर हो गए थे। लाला जी भी भावुकता में पिताजी से कुछ कम नहीं थे। उन पर पिताजी के लेख का बहुत गहरा असर हुआ। जब वह माण्डले से लौटकर लाहौर आये, तब उनसे मिलने के लिए पिताजी उनकी कोठी पर गए थे। उस समय मैं भी उनके साथ था। दोनों भावुक व्यक्तियों का मिलन बहुत ही भावुकतापूर्ण था। दोनों भाई-भाई की तरह बगलगीर हुए। दोनों के नेत्र उस समय प्रेम के आँसुओं से गीले थे, और भी बहुत से मित्र उस समय वहाँ उपस्थित थे। उन सबको दो

पुराने महान् प्रतिस्पर्द्धियों को भाई-भाई की तरह मिलना बहुत ही प्यारा लगा।

मुझे आप पर अभिमान है।

भारत के घटनाचक्र ने फिर पलटा खाया। लाला लाजपतराय जी अमरीका गए और वहीं रोक दिए गए। उन्हें वर्षों तक वहाँ घर बनाकर रहना पड़ा। लाला जी ने उसी लाचारी के प्रवास का पूरा उपयोग किया। उन्होंने भारत के पक्ष में लेख और वाणी द्वारा खूब प्रचार किया, जिससे अमरीका में और अन्य देशों में भी भारत के स्वाधीनता आन्दोलन की चर्चा विशेष रूप से हुई। इसी बीच में यूरोप का पहला महायुद्ध आरम्भ हो गया। युद्ध के दिन लाला जी को अमरीका में ही काटने पड़े। युद्ध के समाप्त होने पर भी बहुत समय तक उन्हें वहाँ रुके रहना पड़ा। इधर भारतवर्ष में रौलट एक्ट का आन्दोलन प्रारम्भ हो गया। देश-भर में असन्तोष की आग भड़क उठी और उससे भी विशेष रूप से पंजाब में तो मानो ज्वालामुखी फट पड़ा। सरकार के रोष का वज्र पंजाब पर भी उग्रतम रूप में पड़ा। उन दिनों दिल्ली और पंजाब पर जो आपत्तियाँ आयीं, उनके समाचार पढ़कर हजारों मील दूर बैठे हुए पंजाब-केसरी के भावुकतापूर्ण हृदय की जो दशा होती होगी, उसका अनुमान ही लगाया जा सकता है। वह कभी आँसू बहाता होगा तो कभी प्रज्वलित हो उठता होगा। जी चाहता होगा कि उड़कर देश में पहुँच जाऊँ तथा सरकार और प्रजा के बीच में खड़ा होकर दमनकारियों से ललकार कर कह दूँ कि आओ, मैं यहाँ खड़ा हूँ, यदि इच्छा हो तो मेरी छाती से टकरा जाओ, पर याद रखो कि मेरी छाती को पार किये बिना तुम प्रजा तक नहीं पहुँच सकोगे। देश की जागृति और सरकार के दमन के समाचारों के साथ ही लाला जी ने यह समाचार भी पढ़े कि दिल्ली और पंजाब में जनता का नेतृत्व स्वामी जी कर रहे हैं। उन्होंने दिल्ली की जामा मस्जिद के मिम्बर पर से भारतीय एकता पर स्वामी जी द्वारा दिए गए सरमन का समाचार पढ़ा और फिर यह भी सुना कि मार्शल ला से आज पंजाब की सेवा के लिए स्वामी जी सर माइकल ओडवायर की नयी तलवार की परवाह न करके अमृतसर पहुँच गए। इन समाचारों का लाला जी के हृदय पर जो प्रभाव पड़ा, वह उनके उस समय स्वामी जी के नाम लिखे गए पत्र की एक पंक्ति से बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है। आपने अपने प्रेम और अपनावट से भरे पत्र में लिखा था, 'मुझे आप पर अभिमान है।' इस एक छोटे से वाक्य में कितनी ममता और कितनी सहृदयता भरी पड़ी है, उसे हृदय वाले ही जान सकते हैं। लाला जी को ऐसा अनुभव हो रहा था कि मानो स्वामी जी के शरीर में उन्हीं की आत्मा काम कर रही है। ऐसा वाक्य प्रायः ऐसे भाई के लिए लिखा जाता है, जो सामान्य सगे से भी अधिक सगा हो।

गुरुकुल

आखिर वह समय भी आ गया, जब लाला जी अपने देश में आ गए। उस समय असहयोग आन्दोलन आरम्भ हो चुका था। लाला जी ने आते ही पंजाब में असहयोग युद्ध की कमान संभाल ली। असहयोग के कार्यक्रम का एक भाग यह भी था कि सरकारी ढंग की प्रचलित शिक्षा का बहिष्कार किया जाऐ। डी० ए० वी० कालेज के निर्माण में लाला जी का बहुत बड़ा हाथ था। उन्होंने कालेज के लिए तन, मन और धन की समूची शक्तियाँ लगाकर उद्योग किया था; परन्तु असहयोग धर्म का एक आदेश चाहता था कि लाला जी उसी अपने खून से सींचे हुए कालेज का विरोध करें। कोई छोटा व्यक्ति होता तो इस धर्मसंकट में ठिठक जाता, पर लाला जी वस्तुतः महान् थे, वह सांसारिक मोह से ऊँचे उठ गए थे और डी० ए० वी० कालेज के छात्रों को कालेज छोड़कर राष्ट्रीय शिक्षणालय में पढ़ने की प्रेरणा करने लगे। उन्हीं दिनों गुरुकुल काँगड़ी के वार्षिकोत्सव पर लाला जी को निमन्त्रित किया गया। डी० ए० वी० कालेज और गुरुकुल काँगड़ी एक-दूसरे से बिलकुल उलटी संस्थाएँ मानी जाती थीं। आर्यसमाज की दुनिया में दोनों को एक-दूसरे के निषेध से समझा जाता था। लाला जी कालेज के जन्मदाताओं और संचालकों में से प्रमुख व्यक्ति थे। इधर स्वामी जी गुरुकुल के संस्थापक और सर्वेसर्वा थे। समय का चिह्न समझिए कि लाला जी को स्वामी जी ने गुरुकुल के उत्सव पर निमन्त्रण दिया। लाला जी ने उसे सहर्ष स्वीकार किया। इससे पूर्व लाला जी का नाम हम लोगों के लिए ऐसा ही था, जैसा किसी ऐतिहासिक वीर शिरोमणि का। पढ़ा था कि जयमल-फत्ता और आल्हा-ऊदल बड़े बहादुर थे। शत्रु उनके नाम से काँपा करते थे, और मित्र उनकी शान के सहारे जीते थे। हम लोग गुरुकुल में रहते थे। कभी लाला जी के दर्शनों का सौभाग्य नहीं पाया था। उनका नाम सुनते थे, उनकी वीर-गाथाएँ पढ़ते थे और हृदय से उनके चरणों में अपना सिर झुकाते थे। जब सुना कि लाला जी गुरुकुल में आएंगे तो हमारे दिल बाँसों उछलने लगे। सुन रखा था कि लाला जी की जबान में जादू है। हम लोगों को सबसे बड़ी प्रसन्नता यह हो रही थी कि लाला जी का भाषण सुनेंगे, जो हमारे लिए अब तक केवल एक दन्त-कथा बनी हुई थी। उसे स्थूल रूप में आँखों के सामने आने की आशा से सब ब्रह्मचारी असाधारण रूप से प्रसन्न थे।

लाला जी का गुरुकुल में बड़ी धूमधाम से स्वागत हुआ। स्वागत का तो आजकल रिवाज हो गया है; परन्तु आप सच मानें, वह स्वागत बिलकुल हार्दिक था। हम लोगों के हृदय लाला जी के स्वागत के लिए उमड़ पड़ते थे।

लाला जी दलितोद्धार-सम्मेलन के सभापति निर्वाचित हुए थे। जब

आप बोलने के लिए खड़े हुए, तब बहुत देर तक पण्डाल तालियों से गूँजता रहा। आर्यसमाज और कांग्रेस के शब्दकोश में जितने जोशीले नारे थे, सब लगा दिए गए। अनुभव हो रहा था कि डी० ए० वी० कालेज के एक संस्थापक को गुरुकुल में देखकर आर्यसमाजी लोग, आर्यसमाज की एकता का और एक राष्ट्रीय नेता को गुरुकुल में देख कर राष्ट्रवादी लोग भारतीय राष्ट्र की एकता का स्वप्न देख रहे थे। ब्रह्मचारियों के लिए लाला जी का भाषण सुनने का पहला ही अवसर था, इस कारण उनकी उत्सुकता बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी।

लाला जी कैसे वक्ता थे, इस पर मैं यहाँ कुछ नहीं कहूँगा। मैं दीपक दिखा कर सूर्य की रोशनी को प्रकाशित क्या करूँ! हम लोगों पर उनका क्या असर पड़ा, इसकी चर्चा भी किसी दूसरे स्थान पर ही करूँगा। यहाँ तो मैं उन थोड़े से संस्मरणों को स्मृति की पुस्तक में से उद्धृत करता हूँ, जो लाला जी ने उस भाषण में स्वामी जी और गुरुकुल के सम्बन्ध में कहे थे। आपने कहा—

"मुझे जब स्वामी जी की ओर से गुरुकुल का निमन्त्रण-पत्र मिला था, तब मैंने उसे सहर्ष स्वीकार कर लिया। डी० ए० वी० कालेज से मेरा उसकी स्थापना के समय से ही सम्बन्ध है। वह सम्बन्ध ऐसा है, जैसा एक बाप का बेटे के साथ होता है। मैं डी० ए० वी० कालेज को अपनी सन्तान की तरह प्यार करता हूँ, परन्तु गुरुकुल में मेरा प्रेम दूसरी ही तरह का है। मैं उससे ऐसा प्यार करता हूँ, जैसा एक प्रेमी को प्रेमिका के साथ होना चाहिए।"

यह वाक्य अभी समाप्त भी न हुआ था कि सारा पण्डाल तालियों से गूँज उठा। यहाँ तक कि वाक्य के अन्तिम शब्द को केवल अनुमान से लगाया जा सका। उस असमान्य रूप से परिमार्जित ऊँचे और तार स्वर से कहे हुए भावुकतापूर्ण ये वाक्य श्रोताओं के हृदयों को पार करके मानो उनकी अन्तरात्माओं में प्रवेश कर गए। उस समय हम लोगों ने पहली बार अनुभव किया कि व्याख्यान-कला का जादू किसे कहते है। लाला जी उस कला के आचार्य थे। हिन्दुस्तानी भाषण की कला में लाला जी जो ऊँचा पैमाना कायम कर गए हैं, वह आज तक भी अछूता ही पड़ा है। कोई वक्ता उसकी निचली रेखा को छू तक नहीं सका।

गुरुकुल में स्वामी जी और लाला जी भाई-भाई की तरह गले से गले मिलाकर मिले। दो ऐसे सेनापति, जिन की तबीयतों में परस्पर समानताएँ असमानताओं की अपेक्षा बहुत अधिक थीं, यदि समानताएँ 90 थीं तो असमानताएँ 10 थीं। उन्हें परिस्थितियों ने अलग-अलग मोर्चों पर खड़ा कर दिया था। गुरुकुल में उन दोनों को एक ही मोर्चे पर खड़ा देखकर आर्य जनता अपने अंगों में फूली नहीं समाती थी।

इकत्तीसवाँ परिच्छेद

एक नया अनुभव

इतना दुःखदायी और इतना सुखद

अब तक के इन संस्मरणों में मैंने निरन्तर प्रयत्न किया है कि मैं अपने व्यक्तित्व को कलम के पीछे छिपा कर रखूँ। इस प्रयत्न से मुझे बहुत कुछ सफलता भी हुई है, परन्तु स्मृति-ग्रन्थ के इस परिच्छेद में, जिसे मैं आज लिखने बैठा हूँ, मुझे थोड़ी-सी अपनी बात कहनी पड़ती है। परिच्छेद को पढ़ जाने पर पाठक मान जाएँगे कि यदि मैं ऐसा न करता तो वह बात स्पष्ट न होती, जो मैं सुनाना चाहता हूँ।

यह एक सच्चाई है कि पिताजी के जीवन काल में मैं सदा उनका अनुयायी रहा। कभी-कभी स्थान की दृष्टि से अधिक दूरी हो जाने पर भी मानसिक दृष्टि से सदा समीपता रही। आर्यसमाज के क्षेत्र में हों या कांग्रेस के क्षेत्र में, मैं उनके दायें या बायें दिखाई देता था।

इस बीसवीं सदी में पुराने और नये का संघर्ष एक नियम सा बन गया है। बेटा जवान होते ही बाप को और शिष्य किताब पढ़ने की योग्यता होते ही गुरु को पुराने ढर्रे का बुद्धू या खूसट समझने लगता है। इतनी दूरी तक न जाए तो भी उसकी यह भावना तो हो ही जाती है कि पुरानी दुनिया नासमझ थी, इस कारण पिता या गुरु की बात मानना जरूरी नहीं। पिता या गुरु, बेटों और शिष्यों की इस भावना से अपरिचत नहीं रहते, जिसका परिणाम यह होता है कि दोनों के मध्य में एक खाई बन जाती है, जो समय के साथ-साथ अधिक गहरी और चौड़ी होती जाती है।

ऐसी दुनिया में, लगभग सारी युवावस्था में मानसिक दृष्टि से अपने पिता और गुरु के निरन्तर समीप रह सकना वस्तुतः बड़े आश्चर्य की बात है। मैं स्वयं इस बात को सोच कर आश्चर्यित होता हूँ कि स्नातक बनने के पश्चात् लगभग 15 वर्ष के क्रियात्मक जीवन में मैं बिना किसी व्यवधान के पिताजी का अनुयायी कैसे रह सका।

यदि ऐसा होता कि मैं सदा पिताजी से सहमत ही रहता तो अनुयायी रहने में आश्चर्य की कोई बात नहीं थी। धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्र में मेरी और पिताजी की प्रवृत्तियों में कई बहुत बड़े भेद थे। वह स्वभाव से श्रद्धाप्रधान भावुक व्यक्ति थे, मैं स्वभाव से तर्क-प्रधान ठण्डा प्राणी हूँ। उन्हें

किसी परिणाम पर पहुँचने में और उसके अनुसार बड़े से बड़ा कदम उठाने में क्षण-भर की भी देर नहीं लगती थी। मैं किसी निश्चय पर पहुँचने में बहुत धीमा हूँ और फिर उसके अनुसार लम्बी छलाँग लगाने में और भी अधिक समय लेता हूँ। उनके हर एक विचार में कट्टरता थी, मुझमें उसका अभाव है। इतनी मौलिक भिन्नताएँ होते हुए भी 15 वर्ष के निजू और सार्वजनिक जीवन में बाप-बेटे का निरन्तर साथ रह सकना वस्तुत: एक अद्‌भुत वस्तु थी।

इस अद्‌भुत वातावरण का कारण जानने के लिए थोड़े से आत्म-विश्लेषण की आवश्यकता है। मैं सदा पिताजी से सहमत रहता था यह तो मैं किसी दशा में भी नहीं कह सकता। प्रकृति-भेद के कारण शायद अधिकतर बाह्य विषयों पर मैं उनसे न्यूनाधिक असहमत ही रहता था, तो भी मैं उनके दायरे से बाहिर न निकला, इसका मैं एक ही कारण समझता हूँ। मैंने असहमत होकर और बहुत सा प्रयत्न करके जब कभी उस दायरे की दीवार को लांघने का प्रयत्न किया, तो देखा कि वह दीवार अभी और दूर है, और वह दायरा अभी और भी विशाल है, लाँघने का कोई अवसर ही नहीं आता था। उनकी विशालता से मैं हार जाता था। पिताजी से असहमत होकर रस्सी तुड़ाने की नौबत नहीं आती थी, क्योंकि वह रस्सी असीम थी। जो व्यक्ति उनके समीप रहे, वे सभी अनुभव करते थे कि उनका हृदय का घेरा बहुत विस्तृत था, वह देश और जाति की सीमाओं से सीमित नहीं था। ऐसे घेरे में से इच्छा रहते भी कैसे निकला जा सकता था!

घटना

मैंने जो विश्लेषण यहाँ किया है, उसे निम्नलिखित घटना स्पष्ट कर देगी— 1926 में कौन्सिलों के नये चुनाव हुए। कांग्रेस ने अपने उम्मीदवार खड़े किये। इधर पं० मदनमोहन मालवीय और लाला लाजपतराय ने हिन्दू हितों की रक्षा के लिए नैशनलिस्ट पार्टी की योजना की और कई प्रान्तों में, कांग्रेस के विरोध में, अपने उम्मीदवार खड़े किए गए। पिताजी मुख्य रूप से राजनीतिक व्यक्ति नहीं थे, हाँ, राजनीति उनके धर्म का एक भाग अवश्य थी। उनका राजनीति सम्बन्धी धर्म महात्मा गाँधी के समानान्तर था। जब नैशनलिस्ट पार्टी की स्थापना हुई और मालवीय जी और लाला जी ने हिन्दू-हितों के नाम पर स्वामी जी से सहयोग माँगा तो एक विचित्र परिस्थिति पैदा हो गई। कई दिनों तक विचार-संघर्ष जारी रहा। पिताजी कांग्रेस की साम्प्रदायिक नीति से असहमत थे। वह इस परिणाम पर पहुँच चुके थे कि उस समय कांग्रेस हिन्दू-हितों को दबा कर मुसलमानों को सन्तुष्ट रखना चाहती है। पिताजी का मन था कि इस नीति से भारत की साम्प्रदायिक समस्या

सुलझने के स्थान पर और अधिक उलझेगी, क्योंकि अन्याय के आधार पर किया गया समझौता कभी स्थायी नहीं होता। दूसरी ओर साम्प्रदायिक संस्था की ओर से राजनीतिक चुनाव लड़ने, और कांग्रेस का विरोध करने से वह सहमत नहीं थे। कई दिनों तक पिताजी के हृदय में समुद्र-मन्थन जारी रहा, जिस के एक-एक उतार-चढ़ाव को देखने का मुझे अवसर मिला। बात यह थी कि 1926 के चुनाव ने राष्ट्रवादियों के घरों तक में विचार-संघर्ष उत्पन्न होने वाली फूट के बीज़ बो दिये थे। मैं चुनाव में कांग्रेस का पूरा सोलहों आने समर्थक था, और मेरे कुछ साथी, जो अब तक मेरे साथ सौ फीसदी सहमति रखते थे, नैशनलिस्ट पार्टी के समर्थक बन गए थे। पिताजी को मालवीय जी, लाला जी और वह नौजवान साथी नैशनलिस्ट पार्टी के समर्थन में खड़ा करना चाहते थे। स्वभाव से मैं उनके प्रयत्नों की काट करता रहता था। अन्त में मामला यहाँ तक गम्भीर समझा गया कि लाला जी को तार देकर लाहौर से बुलाया गया और मेरी जिद को तोड़ने के लिए लाला जी की उपस्थिति में पिताजी के पास मुझे बुला कर पेश किया गया। लाला जी ने मुझे बहुत समझाया। मैं उन्हें पिताजी के समान मानता था। मैंने आदरपूर्वक उनकी बात सुनी और विनयपूर्वक अपना निवेदन किया। अन्त में लाला जी ने मुझसे जो कहा उसका अभिप्राय निम्नलिखित था—

"इस समय प्रत्येक हिन्दू का कर्त्तव्य है कि वह चुनाव में नैशनलिस्ट पार्टी के उम्मीदवारों की मदद करे। दिल्ली की ओर से कांग्रेस ने मि० आसफ अली को खड़ा किया है। नैशनलिस्ट पार्टी लाला शिवनारायण का समर्थन कर रही है। तुम्हें मालूम होना चाहिए कि स्वामी जी ने लाला शिवनारायण का समर्थन करना स्वीकार कर लिया है, और हमें इज़ाजत दे दी है कि हम उनके समर्थकों में स्वामी जी का नाम भी दे दें। तुम से मैं उम्मीद करता हूँ कि तुम अब मि० आसफअली का समर्थन छोड़ दोगे। अन्य कोई कारण नहीं, तो लिहाज के कारण ही तुम्हें अब कांग्रेस का समर्थन न करना चाहिये।'

मेरे सामने बहुत बड़ा धर्मसंकट था। लाला जी और स्वामी जी दोनों ही को मैं पूजा के योग्य मानता था। उनमें से एक की बात को टालने की शक्ति भी मुझ में नहीं थी। जब दोनों ही एकमत हों तो मैं क्या करूँ? पर जो लोग किसी सम्मति पर पहुँचने में देर लगाते हैं, वे उसे छोड़ते भी देर में हैं। मैं भी उन्हीं सुस्त आदमियों में रहा हूँ। मैंने लाला जी से निवेदन किया— 'मेरे लिए आप की आज्ञा उतनी ही बड़ी है, जितनी स्वामी जी की आज्ञा; परन्तु ऐसे मन्तव्य सम्बन्धी विषयों में मुझे स्वामी जी ने सदा स्वतन्त्र रखा है। इसी बल पर मैं अपने मन्तव्य के अनुसार चलने का साहस करता रहा हूँ। मुझे आशा है, आप भी मुझे इतना अधिकार देंगे ताकि मैं अपनी आत्मा

के शब्द को अनसुना न करूँ। मेरा मन्तव्य है कि राजनीतिक चुनाव में कांग्रेस का समर्थन करना प्रत्येक भारतवासी का कर्तव्य है।'

मैंने देखा कि मेरी बातें सुनकर लाला जी के चेहरे पर क्रोध का चिह्न नहीं दिखाई दिया, प्रत्युत उन्होंने हलके अभिमान मिश्रित सन्तोष के साथ स्वामी जी की ओर देखा। स्वामी जी ने मुस्करा कर कहा, 'हाँ, इन्द्र ठीक कहता है। मैंने इसे विचार और कार्य की पूरी स्वतन्त्रता दे रखी है।' लाला जी और पिताजी दोनों ही अत्यन्त भावुक थे। लाला जी ने भरे हुए गले से कहा—

'इन्द्र! जो अधिकार तुम्हें स्वामी जी ने दे रखा है, उसे मैं कैसे छीन सकता हूँ! तुम अपने विचार के अनुसार कार्य करो, परन्तु याद रखो कि इस चुनाव में तुम्हें कामयाबी न होगी। हम दोनों लाला शिवनारायण के समर्थक हैं।' मैंने प्रसन्नतापूर्वक कहा, 'वह तो मैं भी समझता हूँ, परन्तु मैं प्रयत्न में कोई कसर नहीं छोडूंगा। सफलता ईश्वराधीन है।'

चुनाव खूब जोर से लड़ा गया। परिणाम ने दोनों ओर से आशावाद को व्यर्थ कर दिया। चुनाव में न कांग्रेस के उम्मीदवार सफल हुए और न नेशनलिस्ट पार्टी के उम्मीदवार। सफल हो गए एक तीसरे व्यक्ति, जिन्होंने हिन्दू-हितों के नाम पर हिन्दू नेताओं को धता बतलाया था।

उस चुनाव के सिलसिले में मैं दिल्ली में भी घूमा और दिल्ली से बाहर गोरखपुर आदि में भी गया। प्रायः सभी जगह मुझे स्वतन्त्र डफली बजानी पड़ी। परन्तु किसी स्थान पर भी मैंने यह अनुभव नहीं किया कि मैं पिताजी के विशाल दायरे से बाहर जा सकता हूँ।

वह चुनाव-काण्ड मेरे लिए बहुत दुःखदायी था, क्योंकि उसमें मुझे उनके विरुद्ध कार्य करना पड़ा, जिन्हें मैं पूज्य मानता था; परन्तु साथ ही सन्तोषप्रद भी हुआ, क्योंकि उसने मुझे पिताजी के हृदय की विशालता को पूरी तरह अनुभव करने का अवसर दिया।

चुनाव के प्रसंग में मैं जहाँ भी गया, वहाँ पिताजी और लाला जी के हस्ताक्षरों वाले पोस्टर मेरे सामने रख दिए जाते थे और पूछा जाता था कि आप स्वामी जी के विरोध में कांग्रेस का समर्थन करेंगे? मेरा एक ही उत्तर था—"मुझे स्वामी जी ने आत्मा के आदेश के अनुसार चलने की अनुमति दे दी है।"

बत्तीसवाँ परिच्छेद

बलिदान (1)

पिताजी निमोनिया के भयंकर आक्रमण से निकल चुके थे। अभी इलाज जारी था, और निर्बलता बहुत अधिक थी, परन्तु रोग का सिर कट चुका था।

मैं नित्य नियम के अनुसार दोपहर बाद बलिदान-भवन गया। अर्जुन कार्यालय, जहाँ मैं रहता था, बलिदान-भवन से बहुत दूर नहीं था, अधिक से अधिक चार का मिनट पैदल रास्ता होगा। पिताजी की तबीयत अच्छी थी। उस समय कुछ अन्य महानुभाव भी वहाँ बैठे थे। पिताजी को स्वास्थ्य लाभ करते देखकर सभी प्रसन्न थे। पिताजी ने सारी बीमारी का बड़ी धीरता से सामना किया, परन्तु एक बात इस बीमारी में उनकी जिह्वा पर रही। वे बार-बार कहते थे कि अब यह शरीर सेवा करने योग्य नहीं रहा। अब तो एक ही इच्छा है कि अगले जन्म में ऐसा शरीर प्राप्त करूँ कि जो धर्म की सेवा के काम आ सके। ऐसे ही भाव उस दिन भी पिताजी ने प्रकट किए। इस पर हम सबने निवेदन किया कि अब तो कोई खतरे की बात नहीं है। डा० अन्सारी ने भी कह दिया है कि रोग जा चुका है, कुछ ही दिनों में आप सर्वथा स्वस्थ हो जाएँगे। पिताजी ने मुस्कराकर जो उत्तर दिया, उसका आशय यह था कि होगा तो वही, जो भगवान् चाहेंगे, मैं तो केवल अपनी इच्छा प्रकट कर रहा हूँ।

थोड़ी देर तक बातचीत करने के पश्चात् हम लोग उठ गए, क्योंकि पिताजी के नित्यकर्म से निवृत्त होने का समय हो गया था। केवल उनका सेवक धर्मसिंह उनके पास रहता था। उसने चारपाई के पास कमोड रख दिया, पिताजी स्वयं उठकर शौचादि से निवृत्त हुए और फिर चारपाई पर लेट गए। हम लोग बलिदान-भवन के दूसरे हिस्से में थोड़ी देर बातचीत करके अपने-अपने स्थानों को चले गए।

मैं घर आकर चारपाई पर बैठा ही था कि बच्चा भागता हुआ और उसने घबराये हुए स्वर में कहा—"दादा जी को किसी ने गोली मार दी।" घर के सब लोगों ने अचम्भे और अविश्वास से उसकी बात को सुना, क्योंकि मैं उन्हें पिताजी के स्वास्थ्य की सन्तोषजनक उन्नति होने के समाचार सुना रहा था। यह समझकर कि बच्चे ने बात समझने में भूल की है, मैंने उससे पूछा—"तूने यह किससे सुना?" उसने उत्तर दिया—"आप पूछ लीजिए।" सड़क पर जीवनलाल जी बहुत ही घबराई आवाज में मुझे पुकार रहे थे। मुझे देखकर

वे बोले—"स्वामी जी को किसी ने गोली मार दी।"

मैंने पूछा—"गोली मारने वाला पकड़ा गया या नहीं?"

जीवनलाल जी गोली की आवाज सुनकर सड़क पर ऐसी ख़बर देने के लिए भाग आये थे, उन्होंने उत्तर दिया—"यह तो पता नहीं, शायद भाग गया हो।"

समाचार सुनकर मेरे पावँ तले से ज़मीन निकल गयी; परन्तु समाचार के मानने और समझने में देर नहीं लगी। ऐसी आशंका तो कुछ दिनों से हो रही थी। इतने में घर के और लोग आगे छज्जे पर पहुँच गए और पूछने लगे कि क्या बात है? मैंने कोई उत्तर नहीं दिया और यह कहकर कि स्वयं देखकर आता हूँ, क्या बात है, नंगे पाँव सीढ़ियों से उतर गया। पीछे, घर के अन्य लोग—मेरी पत्नी, और सभी चल पड़े।

मैं भागता हुआ भवन के नीचे पहुँचा तो देखा कि कुछ आदमी इकट्ठे हो गए हैं, और दो-चार ऊपर भी जा चुके हैं। मुझे देखकर सभी तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगे, पर मैं किसी का उत्तर दिये बिना ही ऊपर चढ़ गया। वहाँ जाकर अन्दर घुसते ही मेरी पहली नज़र पिताजी की चारपाई पर पड़ी। पिताज़ी की आँखें बन्द थीं, मानो सुखपूर्वक सोये हों। सामने भगवे कुर्ते पर रक्त दिखाई दे रहा था, जो असली घटना की सूचना दे रहा था, अन्यथा पिताजी को देखकर एकदम यह अनुमान नहीं लग सकता था कि वे सजीव नहीं हैं।

दूसरी नज़र सेवक धर्मसिंह पर पड़ी। वह कमरे के मध्य में जाँघ को हाथ से दबाये पड़ा था। उसके चारों ओर खून फैला हुआ था। मैंने पूछा—"धर्मसिंह, तुम्हारे भी गोली लगी है?"

धर्मसिंह ने उत्तर दिया—"हाँ, पण्डित जी, मेरे भी गोली लगी है। पर आप मेरी चिन्ता न करो, स्वामी जी को कई गोलियाँ लगी हैं, उन्हें सँभालिये।" मैं तक तक पलंग के पास पहुँच चुका था। मैंने पिताजी की कलाई और माथे पर हाथ रखा, तो उसे बिल्कुल ठण्डा पाया। उसी समय मेरी दृष्टि पलंग के पीछे कमरे के कोने में ज़मीन पर औंधे मुंह लेटे हुए स्नातक धर्मपाल जी पर पड़ी। मैंने पूछा—"धर्मपाल जी, क्या आप के भी गोली लगी है?"

उन्होंने उत्तर दिया—"मैंने गोली मारने वाले को दबा रखा है।"

मैंने घबराकर पूछा—"क्या सहायता के लिए आऊँ?"

उनका उत्तर था—"आप इसकी चिन्ता न करें। इसे मैं नहीं छोड़ूंगा। आप स्वामी जी को सम्भालिये।"

उस परिस्थिति में मेरा दिमाग कैसे ठिकाने रहा, मुझे इस बात पर आश्चर्य है। इस समय बहुत से और महानुभाव भी वहाँ पहुंच चुके थे। वे भी विचार

में भाग ले रहे थे। पहला काम यह किया गया कि डा० अन्सारी को टेलीफोन द्वारा बुलाया गया और दूसरा काम यह हुआ कि कोतवाली में दुर्घटना की सूचना दी गई।

यह प्रबन्ध हो ही रहा था कि कमरे के दरवाज़े पर हल्ला मच गया। मैं भाग कर दरवाज़े पर गया तो देखता क्या हूँ कि हमारा स्वयं-सेवक राजाराम हाथ में लम्बा चाकू लिए अन्दर घुसने की चेष्टा कर रहा है, और उसे बा० धनीराम जी (मेरे बहनोई) दोनों हाथों से पकड़ कर रोक रहे हैं। कुछ लोग कह रहे थे, इसे अन्दर जाने दो, और कुछ लोग उसे शान्त कर रहे थे। पूछने पर राजाराम ने कहा—"मैं उस पापी को मारकर छोड़ूंगा, मुझे मत रोको, नहीं तो एक जगह कई खून हो जाऐंगे।" मैंने जाकर राजाराम का चाकू वाला हाथ पकड़ लिया। वह मुझे देखकर चिल्लाया—"पण्डित जी, आप भी मुझे रोक रहे हैं! हमारे जीते-जी उसने स्वामी जी के गोली मार दी—हम उसे अभी मार कर छोड़ेंगे!"

मैंने उसे समझाया कि यदि तुम उसे अभी मार दोगे तो इसका प्रमाण न रहेगा कि वह हत्यारा है, और संसार पर सच्चाई प्रकट न होगी। यह समय शान्त रहने का है, घबराने का नहीं। यह नहीं कि हमारे जोश के कारण पापी का पाप हमारे ही सिर लगा दिया जाए।

राजाराम खूब गठे हुए शरीर का, लम्बा-चौड़ा नौजवान था। उसके चेहरे से बहादुरी टपकती थी। वह ट्राम्बे के दफ्तर में चौकीदारी करता था, परन्तु उसकी नौकरी जाति-सेवा के काम में कभी बाधक नहीं होती थी। बिलकुल निर्भय-सुन्दर डीलडौल के उस सच्चे नौजवान को देखकर हृदय में अभिमान पैदा होता था। कभी-किसी बड़े से बड़े खतरे के काम की आज्ञा मिलने पर मैंने उसे क्षण-भर के लिए भी सोचते या घबराते नहीं देखा। आज्ञा मिलते ही मैदान में कूद पड़ना—यह राजाराम का स्वभाव था। मैंने उस समय राजाराम की आँखों से रक्त बरसता देखा तो अन्य कोई उपाय न पाकर जोरदार स्वर से आज्ञा दी—"राजाराम, क्या कर रहे हो! क्या आज्ञा का उल्लघंन करोगे? चले जाओ यहाँ से।"

राजाराम का हाथ ढीला हो गया। उसने एक बार खून-भरी आँखों से उस कोठरी की ओर देखा, जहाँ धर्मपाल जी के दाहिने शिकंजे में पड़ा हुआ हत्यारा फड़फड़ा रहा था। फिर वह जिस वेग से ऊपर चढ़ा था, उसी वेग से धड़धड़ाता हुआ सीढ़ियों से उतर गया। सच्चा सिपाही आदेश का उल्लघंन न कर सका।

राजाराम वहाँ से तो चला गया, परन्तु उस का क्रोध शान्त न हुआ। उसके पश्चात् दस मिनट के अन्दर ही अन्दर नये बाज़ार में तीन आदमी

घायल हुए, जिनमें से एक जान से मर गया। इस हत्या के अपराध में जिन तीन नौजवानों पर मुकदमा महीनों तक चलता रहा—अन्त में सब अभियुक्त बरी कर दिये गए।

बेचारा राजाराम हवालात में बीमार हो गया था। बाहर आकर उसकी देह सम्भल न सकी, गिरती ही गई। अन्त में वह बांका जवान असमय में ही जेल में लगी हुई बीमारी का ग्रास बन गया।

इतने वर्ष व्यतीत होने पर भी जब कभी मैं राजाराम को याद करता हूँ तो मेरे सामने उसकी चढ़ी हुई मूँछों वाला बहादुर चेहरा जीवित रूप से आ जाता है।

डा० अन्सारी और पुलिस को साथ ही टेलिफोन किया गया था, पर डाक्टर साहब पहले ही आ पहुँचे। डाक्टर साहब अकेले नहीं आये, डा० अब्दुरर्हमान को साथ लेते आये थे। इस अन्तिम बीमारी में पिताजी का इलाज डा० अन्सारी ही कर रहे थे और जब कभी उन्हें दिल्ली से बाहिर जाना पड़ता था, तब वह अपना स्थानापन्न डा० अब्दुरर्हमान को बना जाते थे।

जब डाक्टर साहब को बुलावा पहुँचा, तब उन्होंने यही समझा कि शायद निमोनिया ने अपना उग्रतम रूप धारण कर लिया है, जिससे घबराकर डाक्टर को बुलाया गया है। 1919 से पिताजी का डाक्टर अन्सारी से परिचय हुआ था। तब से अन्तिम समय तक पिताजी को सिवाय डा० अन्सारी के और किसी चिकित्सक का इलाज अनुकूल नहीं पड़ता था। पिताजी की अवस्था इतनी बढ़ गई थी कि जब निमोनिया के दिनों में डाक्टर जी को चार दिन के लिए भोपाल जाना पड़ा, तो पिताजी ने दूसरे डाक्टर से दवा ही नहीं ली। चार दिन तक इलाज केवल सेक-प्लास्टर और परहेज़ तक ही परिमित रहा। जब डाक्टर साहब भोपाल से वापिस आये, तब दवा ली। अटल श्रद्धा का श्रेय श्रद्धालु को दें या श्रद्धा के पात्र को, इस प्रश्न का उत्तर यह है कि वह श्रेय दोनों में समान रूप से बँटना चाहिए।

पिताजी जिसमें श्रद्धा रखते थे, अटल रखते थे, और डा० अन्सारी से जिसने एक बार इलाज करवा लिया, उसे दूसरा दरवाजा सुहाता ही नहीं था।

हाँ, तो जब डाक्टर अन्सारी बलिदान-भवन में पहुँचे तो आश्चर्य और दुःख से स्तब्ध रह दरवाजे में घुसते ही सारे दृश्य को देखकर परिस्थिति को समझने की चेष्टा करते रहे—कुछ देर तक जहाँ के तहाँ खड़े रह गए—मानो पाँव भूमि में गड़ गए हों। फिर आगे बढ़कर पिताजी की नब्ज़ देखी, माथे और पेट को छुआ, आँखों के पर्दे पलट कर देखे और जो कुछ आवश्यक समझा, देखा-भाला, और अन्त में आँसू भरी आँखों से मेरी ओर देखकर

कहा—"भाई, अब तो कुछ बाकी नहीं रहा, गोली सीधे छाती में लगी है। मृत्यु फौरन ही हो गई प्रतीत होती है।" फिर डाक्टर जी धर्मसिंह की ओर मुड़े और उसके घाव पर पट्टी बाँधने लगे।

इतने में पुलिस आ पहुँची। एक इन्सपेक्टर, दो सब-इन्स्पेक्टर और बहुत से सिपाही बड़ी टट-फट के साथ मैदान में उतरे, मानो जंग के लिए तैयार होकर आये हों।

उस समय तक (और वह समय आध घण्टे से कम न होगा) धर्मपाल जी खूनी को दबाये पड़े रहे। खूनी के जिस हाथ में भरा हुआ पिस्तौल था, उसे धर्मपाल जी ने एक हाथ से दबा रखा था, दूसरे हाथ से उसके सिर को फर्श में खूंटे की तरह गाड़ रखा था, और उसकी पीठ पर अपनी छाती का पूरा जोर देकर लेटे हुए थे। कई लोगों ने बीच-बीच में सहायता के लिए हाथ बढ़ाया। उन सबको धर्मपाल जी ने दूर से हटा दिया। यह बिल्कुल ठीक था कि यदि हत्यारे पर धर्मपाल जी का शिकंजा कुछ भी ढीला पड़ जाता तो वह न जाने कितना अनर्थ करके भाग निकलता।

सर्वसाधारण को धर्मपाल जी के उस धैर्य और बल को देखकर बहुत आश्चर्य हुआ था—पर जो लोग उन्हें बचपन से जानते थे, उन्हें कुछ भी आश्चर्य नहीं हुआ। विद्यार्थी-अवस्था में ही साथियों पर उसकी शारीरिक दृढ़ता का आतंक था। उसके बड़े दुर्भाग्य उदित हुए समझो, जो फुटबाल के मैदान में हाफ-बैक धर्मपाल जी के सामने पड़ जाए। यदि हाफ़-बैक की लात सामने के खिलाड़ी की लात पर जा लगी तो मेज़र एक्सीडेण्ट (भयानक दुर्घटना) का हो जाना अनिवार्य था। या तो हड्डी टूट जाती अथवा टांग पर गेंद जैसा गोला सूज आता था। यह बिलकुल आकस्मिक था कि अब्दुल रशीद का वास्ता धर्मपाल जी जैसे ठोस आदमी से पड़ा—परन्तु विधाता की इच्छा प्राय: ऐसी घटनाओं से पूरी होती है, जिन्हें मनुष्य आकस्मिक कहता है। यह विधाता का विधान था कि पिताजी के बलिदान का कानूनी सुबूत लाल हाथों के साथ ही गिरफ्तार हो। यह काम धर्मपाल जी जैसे व्यक्ति के हाथों से ही हो सकता था।

सच्चे और पक्के साथी मैंने बहुत देखे हैं, परन्तु धर्मपाल जी की अपेक्षा अधिक ठोस बात निभाने वाला संगी अब तक मेरे अनुभव में नहीं आया। वह पिताजी के शिष्य भी थे और निजू मन्त्री भी, परन्तु वह सारा आध्यात्मिक सम्बन्ध था। घर से खर्च मँगा कर निर्वाह करते थे और धर्म-भाव से पिताजी की सेवा करते थे। उन्हें उस घटना से जो यश प्राप्त हुआ, वह वस्तुत: उसके अधिकारी हैं।

तेंतीसवाँ परिच्छेद

बलिदान (2)

पुलिस अफसरों ने कमरे में पहुंच कर काफी चुस्ती से काम किया। पिताजी की मृत्यु का प्रामाणिक समाचार तो उन्हें वहाँ पहुँचते ही डा० अन्सारी से मिल गया था। एक सब-इन्स्पेक्टर धर्मसिंह की ओर झुका और दूसरा धर्मपाल जी की ओर। उसने क्षणिक ध्यान से देखकर स्थिति को समझ लिया और धर्मपाल जी से कहा कि जब तक मैं न कहूँ, तब तक शिकंजे को ढीला न कीजियेगा। तब उसने अपना रिवाल्वर हत्यारे के माथे पर रख कर कहा— "ख़बरदार, अगर हिला तो गोली छोड़ दूँगा।" फिर फुलबूट वाला अपना दायाँ पाँव उसकी कलाई पर बड़े जोर से मार कर दबा दिया। जब देख लिया कि कलाई बिलकुल ढीली हो गई, तो बायें हाथ से उसका पिस्तौल पकड़ कर धर्मपाल जी से छोड़ देने को कहा। हाथ छोड़ देने पर हत्यारे का पिस्तौल सब-इन्स्पेक्टर के हाथ में आ गया। तब सब-इन्स्पेक्टर ने धर्मपाल जी को हत्यारे को छोड़ कर उठ जाने के लिए कहा।

वहाँ जितने व्यक्ति थे, सब उस दिन-दहाड़े हत्या करने वाले व्यक्ति को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक थे। दर्शकों ने अपनी भावना के अनुसार उसका कल्पना चित्र मन में बना रखा था। पीछे से इस विषय में प्रायः सर्वसम्मति पाई गई कि जब हत्यारा उठकर खड़ा हुआ, तब उसकी सूरत-शक्ल ने दर्शक लोगों के काल्पनिक चित्रों को सर्वथा झूठा सिद्ध कर दिया। वे किसी हट्टे-कट्टे भयानक रूप वाले खूनी को देखने की आशा रखते थे, परन्तु जब देखा तो एक ऐसा अधेड़ सामने खड़ा पाया, जिस का शरीर मध्यम था। दाढ़ी-मूँछ के बाल पक रहे थे। देखने में अदालत का महुर्रिर मालूम पड़ता था। पीछे से मालूम हुआ कि उसका नाम अब्दुल रशीद और वह किताबत का काम करता था।

अब्दुल रशीद ने उठकर चारों ओर देखा तो उसकी नज़र डाक्टर अन्सारी पर पड़ी। कह नहीं सकते कि उस की वह अदा स्वाभाविक थी या कृत्रिम, वह डाक्टर जी को देखकर मुस्कराया और काफी ऊँचे स्वर से उसने कहा, "डाक्टर साहिब, आदाब अर्ज़।" उस आदाब अर्ज़ में किसी पहली मुलाकात की झलक आती थी। बाद में तहकीकात करने पर मालूम हुआ कि अब्दुल रशीद ने अपने खूनी संकल्प की सूचना बहुत से प्रतिष्ठित मुसलमानों को दे रखी थी। उनमें से कुछ ने उसे रोका, और कुछ ने प्रोत्साहित किया। डाक्टर

साहब उनमें से थे, जिन्होंने उसे रोका था। वह कई महीनों से विधिपूर्वक नृशंसता की तैयारी कर रहा था। इस कार्य के समर्थन में उसने उलमाओं का फतवा तक ले लिया था।

इतनी हलकी सी मुस्कराहट के पश्चात् अब्दुल रशीद के चेहरे पर एक गम्भीर मुर्दनी छा गई। वह उसके चेहरे का स्थायी भाव था, जो तक तक कायम रहा, जब तक वह जेल में फाँसी की रस्सी से झूल कर कर्मफल पाने के लिए बड़े दरबार में नहीं चला गया।

उस दिन बलिदान-भवन में जो अमर कहानी रुधिराक्षरों से लिखी गई, उसे यहाँ दुहराने की आवश्कता नहीं। वह बलिदान के विस्तृत इतिहास का एक परिच्छेद है, और यह मेरी निजू स्मृतियों का संकलन है। गोलीकाण्ड के पश्चात् बलिदान-भवन में मैंने जो कुछ देखा, मैं वह सुना रहा हूँ।

डा० अन्सारी अपने लिए अन्य कोई कार्य न देखकर और उस स्थान के वातावरण को अत्यधिक गर्म होता अुनभव करके चले गए। पुलिस की एक टुकड़ी अब्दुल रशीद को हथकड़ी-बेड़ी डाल, और लारी में बिठाकर कोतवाली ले गई, और दूसरी टुकड़ी बलिदान भवन के पहरे पर तैनात कर दी गई। इस समय वहाँ पुलिस के कई ऊँचे अफसर पहुंच चुके थे, और बयान लिये जाने लगे थे।

यह स्वाभाविक ही था कि ऐसी भयंकर साम्प्रदायिक दुर्घटना से उस स्थान पर और धीरे-धीरे सारे शहर में साम्प्रदायिक विद्वेष की अग्नि प्रचण्ड हो उठती। वह घटना साधारण नहीं थी। 30 करोड़ व्यक्तियों के एक सर्वसम्मानित धर्माचार्य की, दूसरे मत के अनुयायी द्वारा केवल धार्मिक मतभेद के कारण हत्या इतिहास में प्रतिदिन नहीं होती। वह कभी-कभी होती है, और जब कभी होती है, तब इतिहास में नये युग का आरम्भ हो जाता है। इस दुर्घटना ने भी भारत के इतिहास में नया युग आरम्भ कर दिया था। हत्या के पश्चात् थोड़े ही क्षणों में बलिदान-भवन से फैल कर एक आधे घण्टे के अन्दर-अन्दर दिल्ली शहर में, और शायद दो तीन घण्टों में सारे देश में उस आये हुए युग की सरसराहट सुनाई देने लगी थी। संसार में कभी कोई वस्तु सर्वथा निर्गुण या निर्दोष नहीं होती। जो नया युग एक मज़हबी पागल की घिनौनी चेष्टा के कारण पैदा हो, वह निर्दोष होता भी कैसे ? उस नये युग के भी दो पहलू थे—एक बुरा और एक अच्छा। बुरा पहलू यह था कि हिन्दू जाति के एक बड़े भाग में एक अद्भुत जागृति ने जन्म लिया। पहला फल अब्दुल रशीद की दुष्टता का था। अच्छी क्रिया की अच्छी और बुरी क्रिया की बुरी प्रतिक्रिया स्वाभाविक है। इसलिए केवल विवेचनात्मक दृष्टि से देखें तो उस सन्ध्या समय की दुर्घटना से हिन्दू जाति पर जो अच्छे और बुरे प्रभाव

पड़े, वे सर्वथा स्वाभाविक थे। उन पर प्रसन्न होना या दुखी होना अपनी तबीयत का परिणाम हो सकता है परन्तु उनकी स्वाभाविकता में शायद ही कोई मतभेद हो।

संस्मरण के इस अध्याय को समाप्त करने से पूर्व मैं दो-तीन आपबीती चीज़ें पाठकों को और सुना देना चाहता हूँ। जिस समय इधर अब्दुल रशीद अपनी मूर्खता-भरी चेष्टा से इस्लाम के माथे पर कलंक का टीका लगा रहा था, उधर गोहाटी में अखिल भारतीय राष्ट्रीय महासभा के अधिवेशन की तैयारियां हो रही थीं। स्वागताध्यक्ष महोदय ने पिताजी को एक निजू पत्र लिखकर विशेष आग्रह से महासभा के अधिवेशन में निमन्त्रित किया था। उस पत्र का उत्तर पिताजी की आज्ञा से मैंने ही दिया था। उसमें अस्वस्थता के कारण न जा सकने पर दुःख प्रकट करते हुए अधिवेशन की सफलता के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई थी। पत्र पहुँचने पर स्वागताध्यक्ष ने एक तार द्वारा सन्देश की प्रार्थना की। वह सन्देश का तार भी पिताजी के आदेश के अनुसार मैंने ही लिखा था। मैं केवल स्मृति से उस तार को उद्धृत कर रहा हूँ। इसमें किसी भी शब्द का भेद हो सकता है, अभिप्राय का नहीं। तार यह था—

"On Hindu-Muslim unity depends future wellbeing of India."

अर्थात् 'भारत का भावी सुख हिन्दू-मुस्लिम एकता पर आश्रित है।'

यह सन्देश निमोनिया की उग्र दशा में प्रभात की शान्त वेला में बीमार की चारपाई पर से लिखवाया गया था। इस कारण मान लेना चाहिए कि यह सन्देश देने वाले की अन्तरात्मा का सन्देश था। स्नातक होने के पश्चात् लगभग 16 वर्ष तक पिताजी के निरन्तर समीप रहने पर मुझे जो अनुभव हुआ, उसके आधार पर मैं कह सकता हूँ कि उपर्युक्त सन्देश पिताजी की अन्तरात्मा का सन्देश था। वे हिन्दू-मुस्लिम एकता के कट्टर पक्षपाती थे, परन्तु साथ ही उनका यह भी विश्वास था कि वह एकता तब तक जन्म नहीं ले सकती, जब तक हिन्दू जाति के निर्बल हिन्दू सबल मुसलमानों के मित्र नहीं बन सकेंगे। इस कारण वे हिन्दुओं को मुसलमानों के समान मित्र बनाने के पक्षपाती थे। उनके हिन्दू-संगठन का अभिप्राय मुस्लिम-विरोधी नहीं था अपितु जाति के आंतरिक दोषों को दूर करना था।

मनुष्य के लिए सबसे कठिन काम अपनी भावनाओं का ठीक विश्लेषण करना है। एक प्रसिद्ध लेखक ने लिखा है कि प्रत्येक व्यक्ति के लिए दूसरे व्यक्ति का मन एक बन्द कमरा है, जिसके अन्दर की असली दशा का वह केवल अनुमान लगा सकता है। अनुभव बतलाता है कि मनुष्य कभी-कभी अपने अन्दर की असली दशा का अनुमान भी नहीं लगा सकता। वह उसके लिए केवल बन्द कमरा ही नहीं, अभेद्य दुर्ग बन जाता है, जिसके अन्दर का

अनुमान लगाना भी उसके लिए असम्भव हो जाता है। आत्मविश्लेषण अन्य रासायनिक तथा मनोवैज्ञानिक विश्लेषणों की अपेक्षा कठिन कार्य है।

यही कारण है कि मुझसे जब एक मित्र ने पूछा कि स्वामी जी का बलिदान हुआ, तब आपको कैसे अनुभव हुआ? मैं बहुत देर तक चुप रह कर सोचता रहा कि क्या उत्तर दूँ। पाठक मेरा यह इकबाली बयान पढ़कर आश्चर्यित होंगे। वह सोचेंगे कि इस प्रश्न का उत्तर तो निश्चित ही है, और वह यह कि 'मुझे अपार दुःख हुआ।' यह तो मैं कैसे कहूँ कि मुझे अपार दुःख नहीं हुआ, परन्तु जब आत्मविश्लेषण करके देखा तो केवल इतना उत्तर देने की हिम्मत नहीं पड़ी—क्योंकि उत्तर अधूरा होता, अपने अन्दर आँखें डालकर भी ठीक-ठीक नहीं देख सका कि उस असाधारण घटना ने मेरे हृदय और मस्तिष्क पर क्या-क्या और किस क्रम से प्रतिक्रियाएँ पैदा कीं।

समाचार सुनने का पहला असर मुझ पर यह हुआ कि ठीक परिस्थिति जानने की इच्छा पैदा हुई। यों दुर्घटना का समाचार मुझे बिलकुल आकस्मिक या अनहोना प्रतीत नहीं हुआ। मानो किसी इस प्रकार के समाचार की तो प्रतीक्षा ही थी। इसके दो कारण थे। पहला कारण यह था कि लगभग दो वर्ष से पिताजी को मुसलमान समाचार पत्रों में छपी हुई और डाक द्वारा बिना नाम के खुली हुई धमकियाँ दी जा रही थीं। शुद्धि-सभा का प्रधान पद स्वीकार कर लेने के कारण धर्मान्ध मुसलमानों में पिताजी के प्रति क्रोध की भावना उत्पन्न की जा रही थी, जिसका प्रकाशन धमकियों के रूप में होता रहता था। इस असन्तोषाग्नि पर उन दिनों चलाये गए प्रसिद्ध शान्तिदेवी केस ने घी का काम दिया। केस चोटी से एड़ी तक बनावटी था। असरी बेगम (शान्तिदेवी) को दिल्ली लाने, वनिता-आश्रम में प्रविष्ट कराने या धर्म-परिवर्तन कराने में पिताजी या अन्य किसी हिन्दू या आर्य कार्यकर्त्ता का हाथ नहीं था, परन्तु दिल्ली के कुछ मुसलमानों ने शान्तिदेवी के पिता और मुसलमान पति को प्रेरणा देकर बिलकुल झूठा मुकदमा दायर करवा दिया, जिसकी दो-तीन पेशियों में ही असलियत प्रकट हो गई, और हम लोगों की निर्दोषता का अदालत ने फैसला कर दिया, परन्तु अदूरदर्शी मदान्ध लोगों ने जो विष बिखेरा था, वह अपना काम कर गया। नासमझ मुसलमानों का पिताजी के प्रति विद्वेष-भाव चरम सीमा तक पहुँच गया।

परिणाम यह हुआ कि वायुमण्डल सन्देह और आशंका से भर गया। पिताजी के मन में खतरे की धमकी से सदा उलटी ही प्रतिक्रिया उत्पन्न होती थी। वे खतरे से डरने की जगह, खतरे का सामना करने और उस पर हावी होने के लिए तत्पर हो जाते थे। हम लोगों की चिन्ता या सावधानता उन पर कोई प्रभाव नहीं डालती थी। कभी-कभी जब उन्हें सन्देह हो जाता था कि

लोगों ने उनकी संरक्षता के लिए पहरा लगाया है, तो रात के समय चुपचाप अकेले बाज़ार में घूमने के लिए निकल जाते थे और लालकुआँ, सदर बाज़ार आदि प्रमुख मुसलमान हिस्सों का चक्कर काट जाते थे। इन सब कारणों से हम लोग सदा शंकित रहते थे। कब क्या अनहोनी हो जाए, इसकी मानो प्रतीक्षा करते रहते थे।

सो जब दुर्घटना का पहला समाचार मिला तो ऐसा अनुभव हुआ, जैसे जो होनी थी, वह होकर रही।

एक और भी बात थी, जिसने हमारे हृदयों को इस दुर्घटना के लिए तैयार सा कर दिया था। अपने सदा के स्वभाव के सर्वथा विपरीत, लगभग एक मास से पिताजी शरीर-त्याग की चर्चा किया करते थे। यों स्वभाव से वह घोर आशावादी थे, जैसा कि एक कट्टर आस्तिक को होना चाहिए; परन्तु बलिदान के लगभग एक घण्टा पूर्व ही उनकी बातचीत का रुख बदल गया था। मैंने उनकी बड़ी-बड़ी बीमारियाँ देखी थीं। वे कभी हारी हुई बात नहीं करते थे। हारी हुई बात करने वाले को ढाढ़स देकर कहा करते थे, 'तुम चिन्ता क्यों करते हो ? अभी धर्म की सेवा के लिए मेरे शरीर की आवश्यकता है, उसकी रक्षा परमात्मा करेगा।' 1926 के अन्त में जब उन पर निमोनिया का आक्रमण हुआ, उससे पूर्व ही उनकी भाषा में परिवर्तन आ गया था। नवम्बर के अन्त में वह लाहौर गए और गुरुदत्त-भवन में व्याख्यान दिया। सुनने वाले बतलाते हैं कि उस व्याख्यान में उन्होंने यह भाव स्पष्ट रूप से व्यक्त किया था कि सम्भवत: लाहौर में उनका यह व्याख्यान अन्तिम है। ऐसा ही भाव उन्होंने दो-तीन अन्य व्याख्यानों में भी प्रकट किया था।

रोगी होने पर तो वह प्राय: नित्य ही ऐसी बात करते थे, यों भाषा में कुछ भेद आ गया था।

बलिदान से दो दिन पूर्व व्याख्यान-वाचस्पति पण्डित दीनदयालु जी शास्त्री आपका स्वास्थ्य-समाचार पूछने आये। कुशल-समाचार पूछने पर आपने कहा—"डाक्टर कहते हैं, अच्छा है।" शास्त्री जी ने मुस्करा कर पूछा—"आपकी क्या सम्मति है ?" पिताजी ने उत्तर दिया—"मेरी तो अब जीने की इच्छा नहीं है।"

इस पर शास्त्री जी ने कहा—"स्वामी जी, मुझ से मालवीय जी एक-डेढ़ वर्ष बड़े हैं, और आप उनसे एक वर्ष बड़े हैं। अभी हम लोगों को बहुत सा काम करना है। आप क्यों इतनी जल्दी मोक्ष की तैयारी करने लगे। अब तो आप राज़ी हो जाओगे।"

पिताजी ने उत्तर दिया—"पण्डित जी, इस समय मुझे मोक्ष की इच्छा नहीं, मैं तो चोला बदलकर दूसरा शरीर धारण करना चाहता हूँ। अब यह

शरीर सेवा के योग्य नहीं रहा। इच्छा है, फिर भारतवर्ष में ही पैदा होकर फिर इसकी सेवा करूँ।"

22 दिसम्बर के प्रात:काल 5 बजे के लगभग पिताजी का सेवक धर्मसिंह मुझे घर बुलाने आया था। उसी समय डा० सुखदेव जी को और लाला देशबन्धु जी को भी बुलाया गया था। हम सब के एकत्र हो जाने पर पिताजी ने कहा—"भाई, मेरी वसीयत लिखा लो। इस शरीर का कुछ भरोसा नहीं। कब क्या हो जाए, यह भगवान् के सिवाय किसी को पता नहीं।"

उस दिन पिताजी की तबीयत काफी अच्छी समझी जा रही थी। डा० अन्सारी ने पहले दिन कहा था कि अब कोई खतरा नहीं रहा। डा० सुखेदव जी ने निवदेन किया कि अब चिन्ता या घबराहट की कोई बात नहीं। आप शीघ्र ही बिलकुल ठीक हो जाएंगे। हम लोग भी इस निवेदन में शामिल हो गए, और यह समझकर कि वसीयत लिखने का पिताजी के दिल पर बुरा असर न हो, लिखने में आनाकानी करने लगे। पिताजी इस बात से कुछ खिन्न-से हो गए, और कहा—"अच्छा भाई, तुम्हारी मर्जी, पर मैं जो कुछ चाहता हूँ, वह सुन तो लो। जब चाहो, तब लिख लेना।" हम लोग सुनने लगे। उस समय हम लोग चर्म के चक्षुओं से देखते थे और पिताजी ज्ञान के चक्षुओं से, अन्यथा हमसे ऐसी हिमाकत-भरी भूल न होती कि हम उनके शब्दों को लेखबद्ध न करते। हमसे इतनी बड़ी भूल हुई कि उसका मार्जन नहीं हो सकता। यह समझकर कि रोगी को यह अनुभव न होने देना चाहिए कि उनकी दशा चिन्ताजनक है, हम ने उस समय की बातों को पूरी तरह हृदयंगम नहीं किया। पीछे से स्मृति को ताज़ा करने पर निम्नलिखित बातें ध्यान में आईं—

आपने अपनी निम्नलिखित इच्छाएँ प्रकट की थी—

1—मैं आर्यसमाज का इतिहास लिखना चाहता था। लिख नहीं सका, इन्द्र उसे लिख कर पूरा कर दे।

2—'तेज' और 'अर्जुन' पत्र मेरी भावना के अनुसार चलते रहें।

3—गुरुकुल की रक्षा की जाए।

23 दिसम्बर को बलिदान से कुछ ही समय पहले शुद्धि-सभा के प्रधान सर राजा रामपाल सिंह के स्वास्थ्य सम्बन्धी तार के उत्तर में पिताजी ने जो तार दिलवाया था, उसमें लिखा था कि अब तो यही इच्छा है कि दूसरा शरीर धारण कर इस जीवन के अधूरे काम को पूरा करूँ।

यही कारण था कि जब मुझे जीवनलाल जी ने स्वामी जी पर गोली चलने का समाचार दिया, तब वह आकस्मिक नहीं प्रतीत हुआ। सुनकर ऐसे अनुभव हुआ कि यह तो होने वाला ही था, पर हुआ कैसे ? अभी तो

हम लोग उठकर आये हैं, इतने में क्या हो गया ?

जाकर देखा तो किंकर्तव्यता सामने आ गई। ध्यान उस ओर चला गया। शहर में बलिदान का समाचार हवा की तरह फैल गया और श्रद्धानन्द बाजार में भीड़ इकट्ठी होने लगी। हरेक के दिल में दुःख था और आंखों में जोश। जिसे देखता, वह इतना प्रभावित दिखाई देता कि जितना कोई सम्बन्धी भी नहीं हो सकता। मैं उस समय अपने को विशेष रूप से दुखी कैसे समझ लेता! मैं उनका पुत्र था, पर अन्य लोग उनकी स्मृति पर मुझसे बढ़कर दावा कर रहे थे। अनुभव होता था कि सारी दुनिया मेरे साथ संवेदना प्रकट करना चाह रही है, और मेरी अपेक्षा भी मुझ से अधिक वेदना प्रकट करना चाहती है। इस कारण मैं संवेदना का पूरा अनुभव नहीं कर सका और न उसे प्रकट ही कर सका।

इस सहानुभूति की भावना के साथ एक और चीज़ भी मिल गई। स्वभावतः मुझे अनुभव हुआ कि यह बड़ा भारी बलिदान था। जैसी कहानियाँ और घटनाएँ इतिहास में पढ़ते आये थे, यह तो वैसी ही हो गई। मेरे पिताजी शहीद हो गए, वे अमर पदवी को प्राप्त हो गए, इस विचार ने मेरे दिल को भर दिया। इसे मनोविज्ञान के पण्डित किस दृष्टि से देखेंगे, शायद वे मेरी भावना को क्षुद्र ही समझेंगे, यह सम्भावना होते हुए भी यह स्वीकार कर लेने में मुझे संकोच नहीं कि इस विचार ने मेरे हृदय में अभिमानमिश्रित सन्तोष की बाढ़ सी ला दी। परिणाम यह हुआ कि जब तक वह दिल्ली के इतिहास में स्मरणीय अर्थी का जलूस निगम बोध घाट पर पहुँचकर, दाहक्रिया करके वापिस नहीं आ गया, तब तक मैं बिलकुल स्थिर रहा। शायद मुझसे मिलने वाले मेरी उस स्थिरता से आश्चर्यित होते होंगे। या तो उसे वे मेरी दृढ़ता का प्रमाण मानते होंगे अथवा हृदयहीनता का। वस्तुतः दोनों ही बातें नहीं थीं। वह स्थिरता उन परिस्थितियों का परिणाम थी, जिनका मैंने ऊपर वर्णन किया है।

मैंने स्वयं इस बात को तब अनुभव किया, जब यमुना के तट से लौटकर और सहानुभूति प्रकट करने वाले मित्रों से अवकाश पाकर मैं अकेला अपने लिखने के कमरे में पहुँचा। कमरे में मेरी बैठने की कुर्सी के ऊपर पिता का बड़ा चित्र था (अब वह मेरी कुर्सी के सामने रखा हुआ है) और मैं था। उस समय एकदम मैंने अनुभव किया कि मैं अकेला रह गया। मेरे बड़े भाई पहले ही विलायत जाकर लापता हो चुके थे, पिताजी चले गए (और अब इस तूफानी दुनिया में) आकाश और पृथ्वी के बीच में—मैं अकेला लटकता रह गया, मन में यह भाव आते ही मेरा वह कृत्रिम धर्म और स्थिर भाव जाता रहा और आँसू मानो बाँध को तोड़ कर बह निकले। मैं बहुत देर तक, और आवाज के साथ रोया, यह मुझे भली प्रकार याद है।

परिशिष्ट-२

श्री पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति जी द्वारा लिखित पुस्तकों की सूची

क्रम	नाम पुस्तक	प्रकाश	वर्ष
1.	नेपोलियन बोनापार्ट की जीवनी	(जीवन चरित्र)	१६१२
2.	उपनिषदों की भूमिका	(दर्शन व भारतीय संस्कृति)	१६१४
3.	प्रिंस बिस्मार्क	(जीवन चरित्र)	१६१४
4.	संस्कृत साहित्य का अनुशीलन	(साहित्य)	१६१५
5.	राष्ट्रों की उन्नति	(राजनीति)	१६१५
6.	राष्ट्रीयता का मूल मन्त्र	(राजनीति)	१६१६
7.	गैरीबाल्डी	(जीवन चरित्र)	१६१६
8.	स्वर्ण देश का उद्धार	(नाटक)	१६२१
9.	महर्षि दयानन्द का जीवन चरित्र	(जीवन चरित्र)	१६२७
10.	मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण १, २	(इतिहास)	१६३०
11.	मुगल साम्राज्य का क्षय और उसके कारण ३, ४	(इतिहास)	१६३१
12.	अपराधी कौन	(उपन्यास)	१६३२
13.	शाह आलम की आंखें	(उपन्यास)	१६३२
14.	जीवन की झांकियाँ--दिल्ली के वे स्मरणीय बीस दिन	(संस्मरण)	१६३५
15.	पंडित जवाहरलाल नेहरू	(जीवन चरित्र)	१६३६
16.	जमींदार	(उपन्यास)	१६३६
17.	सरला की भाभी	(उपन्यास)	१६४४
18.	सम्राट् रघु	(जीवन चरित्र)	१६४४
19.	जीवन की झाँकियाँ--मैं चिकित्सा के चक्रव्यूह से कैसे निकला	(संस्मरण)	१६४५
20.	स्वतंत्र भारत की रूपरेखा	(राजनीति)	१६४५
21.	जीवन संग्राम	(राजनीति)	१६४५
22.	सरला	(उपन्यास)	१६४५
23.	जीवन की झाँकियाँ--मेरे नौकरशाही जेल के अनुभव	(संस्मरण)	१६४७
24.	आत्मबलिदान	(उपन्यास)	६४८
25.	हमारे कर्मयोगी राष्ट्रपति	(संस्मरण)	१६५२

26.	स्वराज्य और चरित्रनिर्माण	(सामाजिक)	१६५२
27.	रघुवंश	(साहित्य)	१६५४
28.	किरातार्जुनीयम्	(साहित्य)	१६५५
29.	ईशोपनिषद् भाष्य	(भारतीय संस्कृति)	१६५५
30.	भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का उदय (प्रथम भाग)	(इतिहास)	१६५६
31.	आधुनिक भारत में वक्तृत्व कला की प्रगति	(विविध)	१६५६
32.	मेरे पिता	(जीवनी)	१६५७
33.	भारतीय संस्कृति का प्रवाह	(धार्मिक)	१६५८
34.	मैं इनका ऋणी हूँ	(जीवनी)	१६५६
35.	भारत के स्वाधीनता संग्राम का इतिहास	(इतिहास)	१६६१
36.	लोकमान्य तिलक	(जीवनी)	१६६३
37.	भारतेतीहृयम्	(संस्कृत काव्य) (भारतीय इतिहास)	१६६३
38.	मेरे पत्रकारिता सम्बन्धी अनुभव	(सामाजिक)	१६६०
39.	आत्मचरित्र	(जीवनी)	
40.	आर्य समाज का इतिहास (प्रथम भाग)	(इतिहास)	प्रकाशित
41.	" " (द्वितीय भाग)	(इतिहास)	"
42.	" " (तृतीय भाग)	(इतिहास)	"
43.	जीवन ज्योति	(जीवनी)"	
44.	काव्य कुसुमांजलि (संस्कृत कविताएँ)	(साहित्य)	"
45.	यतीन्द्रनाथ दास का जीवनचरित्र	(जीवनी)"	
46.	बालोपयोगी वैदिक धर्म की पुस्तक	(धार्मिक)	"
47.	गुलाम कादिर	(उपन्यास)	"
48.	वैदिक देवता	(धार्मिक)	"
49.	कांग्रेस का इतिहास	(इतिहास)	"
50.	गुरुकुल शिक्षा पद्धति के मूलभूत सिद्धान्त	(शिक्षा)	"

गुरुकुल संग्रहालय के सौजन्य से —
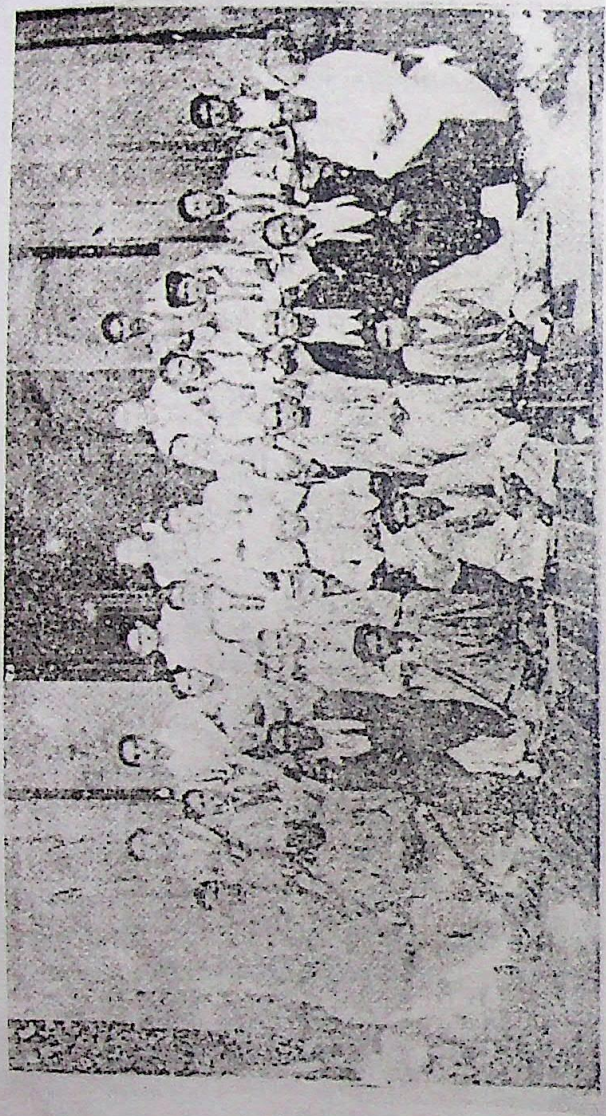
सुप्रसिद्ध दार्शनिक सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन दीक्षान्त के लिए गुरुकुल पधारे। नवस्नातकों का सामूहिक चित्र लिया गया।

चित्र में—कुर्सियों पर बैठे हुए

बाएँ से—पण्डित अर्जुनदेव, पण्डित धर्मपाल विद्यालंकार, डा० धर्मानन्द केसरवानी एम० डी०, पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन, आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति, चतुर्वेद-भाष्यकार पण्डित जयदेव जी, इतिहासवेत्ता डा० सत्यकेतु विद्यालंकार तथा-राष्ट्रकवि पद्मभूषण श्री रामधारी सिंह दिनकर।

परिशिष्ट-३

महात्मा मुंशीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के पत्र पुत्र इन्द्र के नाम

(१)

ओ३म्

गुरुकुल

२१. १२. ६१ (विक्रमी)

मेरे प्यारे पुत्र,

तुम्हारे पत्र का उत्तर कार्य बाहुल्य के कारण नहीं लिख सका। मेरा स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था, किन्तु अब अच्छा हो रहा है।

तुम्हारे दूर होने से मुझे पता लगता है कि तुम्हारी, मुझे कितनी आवश्यकता है। तुम जैसे बिना कहे मेरे हृदय के भाव को समझते हो और कोईनहीं समझता। हरि मुझे बहुत प्यारा है। उसके अन्दर प्रेम का समुद्र भीचलता है, किन्तु फिर भी तुम्हारा साथ रहना मेरे लिए कैसा सन्तोषजनक होसकता है, यह मैं ही जानता हूँ।

तुम्हारा पत्र आने पर फिर लिखूँगा।

मुंशीराम

(२)

ओ३म

आ.स. मन्दिर क्वेटा

१२ श्रावण १९७१

मेरे प्यारे इन्द्र,

तुम्हारे पत्र पहुँचा। यहाँ ५ दिनों की झड़ी आज प्रातः खुली है। तुम्हारे स्वास्थ्य की मुझे चिन्ता रहती है, क्योंकि मेरी आशाओं की पूर्ति के केन्द्र एकमात्र तुम्हीं हो।

मैं हरिश्चन्द्र को सीधा नहीं लिखता, क्योंकि सम्भव है उसे मेरा लिखना बहुत चुभे। परमेश्वर ने उसे वह वक्तृत्वशक्ति दी है, जो शायद किसी के भी हिस्से में न आई हो। संस्कृत का सरल व्याख्यान देकर उसने बूढ़ों तक के हाथों में संस्कृत प्रवेशिका पकड़ा दी थी। आर्यसमाज ने भी उस पर वह विश्वास किया कि अन्तरंग सभा में स्थान दिया। परन्तु उसे अब न संस्कृत में प्रेम, न अध्ययन में अनुराग और न ही जम कर काम करने में दिल लगता है। मेरी सम्मति में न मैं न तुम ऐसी सरल सुन्दर आर्यभाषा लिख सकते हैं, जैसा हरीश लिख सकता है। फिर भी सारी

शक्तियाँ व्यर्थ नष्ट हो रही है।

यह सब विचार तुम हरिश्चन्द्र के आगे उपस्थित करके यहाँ चले आओ। फिर जब यहाँ से लौटेंगे तो शिमले के स्थान पर एक दिन हरीश के पास चल कर ही सब तय कर लेंगे।

मुंशीराम

(३)

प्रिय पुत्र इन्द्र,

कल सार्वदेशिक सभा का काम-काज खुल गया। पुस्तकालय के लिए उसी समय रु. २५० जमा हो गया और भी होगा। कुछ उत्तम पुस्तकें भी दान में मिली। श्री स्वामी अच्युतानन्द जी नित्य रात को वेदों की कथा करते हैं, जिसमें ६० वा ७० नर-नारी की उपस्थिति होती है। भाई देवकी ने यह स्थान अपने पति ज्योतिप्रसाद खिलौने वाले की यादगार में खोला है। यह सब कुछ प्रचारक (सद्धर्म प्रचारक) में दे देता।

२. श्री राम ठाकुरदत्त जी को सख्त निमोनिया हो गया है। परमात्मा उनको निरोग करे।

३. हरिश्चन्द्र को कह दो कि इस पत्र के पहुँचते ही ला. टेकचन्द्र जी को पत्र लिख देवें कि हम सब २ व ३ फरवरी को कलकत्ते पहुँच सकते हैं। यही निश्चय करके वह मेरे नाम पत्र लुधियाना लाला धनीराम बी.ए., एल. एल.बी. वकील द्वारा भेज दें।

४. मैं कल थानेसर रहूँगा। १० ज़नवरी को साढ़े तीन बजे दिन के लुधियाने पहुँचूँगा। अपने चलने के ब्यौरे से लुधियाने धनीराम जी द्वारा सूचना देना।

मुंशीराम

(४)

इण्डियन प्रेस कैम्प
प्रो. कोरोनेशन दर्बार
११ दिसम्बर, १९११

प्रिय पुत्र इन्द्र, नमस्ते।

इसके साथ एक कूपन भेजता हूँ। पन्द्रह आने वसूल हो गए। पिछले सब अंक इनको भेज देना।

२. मालूम होता है कि मेरे पत्र शीघ्र नहीं पहुँचते। अस्तुं

३. तुमने दैनिक पत्रों में पढ़ लिया होगा कि महाराणा उदयपुर को महाराज जॉर्ज नेअपने स्टाफ पर लेकर इण्डियन चीफ इन वेटिंग बना लिया है। अर्थात् दरबार के समय इण्डियन चीफ में से वह सर्वोपरि होंगे। जैसे लॉर्ड क्रयू मिनिस्टर इन वेटिंग है। एक और बात लिखना भूल गया था कि महाराणा उदयपुर उतरते ही सम्राट् को मिले किन्तु प्रोसेसन में महाराज की

आज्ञा से ही नहीं सम्मिलित हुए। अर्थात् दिल्ली शहर में न जाने की उनकी प्रतिज्ञा भंग नहीं हुई। महाराज जॉर्ज से बड़े-छोटे सब प्रसन्न प्रतीत होते हैं।

४. कल की घोषणाओं के विषय में बहुत किंवदन्तियाँ फैली हैं। बंग-विच्छेद में संशोधन तथा दिल्ली को राजधानी बनाना उनमें से एक है। मेरा पत्र पहुँचने पर ही तुम्हें तार द्वारा सब कुछ ज्ञात हो जाएगा।

५ मैं १३ दिसम्बर की रात को अवश्य चल दूँगा और १४ दिसम्बर को प्रातः पहुँच जाऊँगा।

मुंशीराम

(५)

इण्डियन प्रेस कैम्प,
प्रो. कोरोनेशन दर्बार
६ दिसम्बर, १६११

प्रिय पुत्र इन्द्र,

अखबारे आम का सम्पादक पं. हरिकृष्ण मिला। प्रचारक (सद्धर्मप्रचारक) के परिवर्तन के लिए बड़ी मिन्नतें करता है। यह पत्र लिखकर कि सम्पादक हरिकृष्ण की इच्छानुसार परिवर्तन किया जाता है, प्रचारक उनके नाम भेजना आरम्भ कर दो तो अच्छा होगा। अब वह अंकुश में भी रहना स्वीकार करता है।

पंजाब के लाट के कैम्प जलने का हाल पढ़ चुके होंगे। रात आतिशबाजी भी इकट्ठी ही जल गई। इस बात को दबाया जा रहा है। अभी लिखना नहीं।

आर्यवर्तीय सार्वदेशिक सभा के नाम एक विधवा ने १५,००० की जायदाद की रजिस्ट्री कर दी है। उसमें उपदेशक पाठशाला खुल सकती है।

मुंशीराम

(६)

ओ३म्

गुरुकुल वाटिका
३०.४.१६७३ विक्रमी

मेरे प्यारे पुत्र,

लेख में क्या लाऊँ? पुत्री विद्या की चिन्ता रही, परन्तु परमात्मा दृढ़ता दे रहा है। विद्या को कहना कि मुझे अपने व्रत पालन में सहायता देने के लिए आत्मबल लगाए।

कल यदि तुम लोग ताँगे पर ४ बजे ही चल दो—सुखदेव और सुभद्रा देवी साथ हो—यहाँ १।। बजे पहुँच सकोगे। संस्कार आरम्भ होने से पहले आध घण्टे में सब कुछ कह सकूँगा। परमात्मा सारे परिवार की रक्षा करेंगे

और सन्मार्ग पर चलाएँगे—यह मुझे विश्वास है।

तुम मेरे ज्येष्ट शिष्य हो, क्योंकि सबसे ज्येष्ठ शिष्य इस समय प्रवासी है। वह जब आएगा तो कुल के लिए यश दिलाता हुआ आएगा। परन्तु इस समय मेरे सब शिष्यों (स्नातकों तथा ब्रह्मचारियों) के ज्येष्ठ भ्राता तुम ही हो। उन सबको बल देने का भार तुम पर ही है। परमात्मा तुमको इस बोझ के उठाने के लिए बल देंगे।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी
मुंशीराम

उपर्युक्त पत्र महात्मा जी ने संन्यासाश्रम में प्रवेश करने से एक दिन पूर्व लिखा था।,

(७)
ओ३म्

लुधियाना
६.३.१९७४ वि.

मेरे प्यारे इन्द्र,

मेरे सबसे अधिक आज्ञापालक शिष्य तुम रहे हो। इसलिए तुम्हारे साथ प्रेम का अटूट सम्बन्ध है।

उर्दू में जो अपने जीवन-सम्बन्धी लेख था, उससे आगे चलकर उस समय तक पहुँचाने का विचार हुआ था, जब से मैंने 'आप बीती, जग बीती' आरम्भ की थी। परन्तु अब यह मिथ्याभिमान मात्र प्रतीत हुआ। इसलिए न केवल कुछ लिखा हुआ ही फाड़ दिया अत्युत उस सम्बन्ध की फाइल भी जला दी। अब व्यक्तिगत वार्ताओं को छोड़कर जन-कल्याण का कुछ कार्य करना चाहिए। मैं आशा करता हूँ कि मेरे इस कार्य से तुम सहमत होंगे।

धर्मसिंह बड़े प्रेम से सेवा करता है। उपनिषदों का विचार आरम्भ कर दिया है।

सुखदेव को हार्दिक आशीर्वाद। कुल के सारे पुत्रों का स्मरण ईश्वरोपासना के पश्चात् किया करता हूँ। परमेश्वर उन सबको निज व्रत में दृढ़ रखें—यह प्रार्थना रहती है।

परमेश्वर तुम्हें तथा तुम्हारे ज्येष्ठ भ्राता की गृहस्थ के आदर्श पर चलने में सहायता दें—यह मेरी मंगलकामना है।

तुम्हारा मंगाभिलाषी
श्रद्धानन्द संन्यासी

स्वामी श्रद्धानन्द जी की यह स्पष्ट मान्यता थी कि "सारी बड़ी-बड़ी संस्थाएँ और विश्वविद्यालय अपने स्नातकों के कन्धों पर ही चलते हैं। किसी भी विद्यालय से जितना प्रेम उसके स्नातकों, वहाँ पढ़े हुए छात्रों को

होता है, उतना और किसी को नहीं हो सकता। गुरुकुल का भार भी अन्त को गुरुकुल के स्नातकों पर ही पड़ना चाहिए। वे ही उसके उद्देश्यों को, आवश्यकताओं का और मर्मों को जान सकते हैं।''' इसीलिए उनकी हार्दिक इच्छा थी कि उनके बाद गुरुकुल का कार्यभार इन्द्र जी ही संभालें। पर वे यह भी मानते थे कि गुरुकुल का अधिकारी केवल वही व्यक्ति हो सकता है जो समस्त सांसारिक सुखों को त्याग कर निःस्वार्थ एवं समर्पण की भावना से गुरुकुल की सेवा करे, भले ही वह उनका पुत्र ही क्यों न हो। स्वामी जी ने अपने इन भावों को निम्नलिखित पत्र के माध्यम से व्यक्त किया है।

(सद्धर्म प्रचारक, १ मार्गशीर्ष सम्वत् १९७०)

ओ३म्

(८)

गुरुकुल
२६.१२.६९ विक्रमी

मेरे प्यारे पुत्र,

कल के पत्र में अपनी हार्दिक इच्छा का एक भाग प्रकाशित कर चुका हूँ। एक भाग पर हरिश्चन्द्र तथा डॉक्टर सुखदेव से ही बातचीत हो चुकी है। किन्तु आज अपना सारा तुम्हारे सामने रखना चाहता हूँ। इस विषय में और किसी से न बात कर सकता हूँ और न करूँगा।

मैंने देखा है कि गुरुकुल का काम जितना महान् है, उतना ही महान् बलिदान चाहता है। जिस मनुष्य का कोई भी सांसारिक वा पारमार्थिक अन्य सम्बन्ध हो उसके लिए गुरुकुल की सर्व ओर से रक्षा करना तथा उसे उन्नत करना कठिन है। यही कारण है कि न केवल विवाहित पुरुष ही यहाँ पूरा लाभ नहीं पहुँचा सकते, प्रत्युत वे परिवार हीन पुरुष भी जिनाक कोई और लगन है, यहाँ की सहायता में पूर्णतया कृतकार्य नहीं हो सकते। गुरुकुल को चलाने के लिए अन्य योग्यता यह होनी चाहिए कि यहाँ के ब्रह्मचारियों के अतिरिक्त यहाँ के आचार्य और मुख्याधिष्ठाता की दृष्टि में और कोई भी बड़े-से-बड़े आत्मिक उद्देश्य भी कुछ मूल्य न रखता हो।

अब प्रश्न यह है—क्या तुम्हारी रुचि विवाह की ओर है? यदि है तो मैं जानता हूँ कि जो दिल तुम्हें मिला है, उसके अनुसार तुम्हारे प्रेम का बड़ा भाग उधर चला जाएगा। गुरुकुल का गृहपति बनने के लिए आवश्यक है कि गुरुकुल को माता, पिता, भ्राता, धर्मपत्नी—सबके स्थान पर समझा जाए। क्या इस कठिन आत्मसमर्पण का दृढ़ भाव तुम्हारे अन्दर है? यदि है तो गुरुकुल बड़ा भाग्यशाली होगा—यदि नहीं तब भी गुरुकुल तुम्हारे सदाचार तथा उच्च भावों का अभिमान तो कर ही रहा है।

मेरे प्यारे पुत्र! अपने अन्दर के भाव तुम्हारे सामने रख दिए हैं। यदि तुम इस कठिन प्रश्न पर विचार करके किसी परिणाम पर शीघ्र नहीं पहुँच सकते हो तो मुझे लखनऊ में बाबू गंगाप्रसाद वर्मा द्वारा तार दे देना कि अभी दिल्ली न आऊँ। तार १० अप्रैल को प्रातः देना। यदि तुम्हारा कोई तार न आया तो जैसा मैंने लिखा है, १२ को वा १३ अप्रैल को प्रातः ५ बजे मैं दिल्ली पहुँच जाऊँगा।"।

तुम्हारा सदैव सन्तुष्ट पिता
मुंशीराम

प्रतीत होता है कि इस पत्र के उत्तर में श्री इन्द्र से महात्मा जी को जो कुछ लिखा, उससे उन्हें यह आशा हुई कि उनका पुत्र उनके स्वप्न को साकार करेगा और अविवाहित रहकर गुरुकुल की सेवा करेगा। अतः उन्होंने अपने प्रसन्नता के उद्‌गार पत्र के माध्यम से निम्न शब्दों में व्यक्त किए :

ओ३म्
(६)

गुरुकुल
१३.५.१६७० वि.

मेरे प्यारे पुत्र,

तुम्हारा पत्र अभी पहुँचा। तुम्हारा पत्र पढ़ रहा हूँ और बराबर आनन्द की अश्रुधारा बह रही है। परमात्मा ने इसी जन्म में मुझे कृतकार्य कर दिया, यह मेरा रोम-रोम इस समय अनुभव कर रहा है। मेरे प्यारे पुत्र, जिस दिन के लिए मैं रातों जागकर परमेश्र से प्रार्थना करता रहा, जिसके लिए ही मैं संसार के अपने से निर्बल आत्मा के लिए असह्य से दुःखों को सहन करता रहा, वह दिन आज मैंने देखा।

इससे अधिक आज लिखने की कुछ शक्ति नहीं। अभी तो इस आनन्द को ही बार-बार अनुभव करके आनन्दित होने दो, कार्य के साधनों का विस्तृत विचार फिर होगा।

जैसे कि लिख चुका हूँ ३० मई को यहाँ से चलूंगा। यदि तुम भी ३१ मई को लाहौर पहुँचोगे, तो वहाँ सभा के अधिवेशन वे निवृत्त होकर २ जून को दिन का बड़ा भाग विचार में ही कटेगा।

तुम्हारा
मुंशीराम

महात्मा गाँधी जी के आह्वान पर स्वामी श्रद्धानन्द जी सत्याग्रह-आंदोलन में सम्मिलित हो गए और पूरी तरह से उसकी सफलता के लिए प्रयत्नशील थे। ७ मार्च, १६१६ को उन्होंने इसी प्रसंग में दिल्ली में आयोजित सार्वजनिक सभा में प्रथम भाषण दिया और लोगों को सत्याग्रह-आन्दोलन

में भाग लेने की प्रेरणा दी। इसके बाद स्वामी जी गुरुकुल के लिए शिल्प-शिक्षा सम्बन्धी योजना बनाने के उद्देश्य से बड़ौदा और बम्बई गए थे। बम्बई में सत्याग्रह समिति का गठन हो चुका था और उन दिनों महात्मा गाँधी भी वहाँ पहुँचे थे। स्वामी जी को भी समिति के आग्रह पर वहाँ रुकना पड़ा।

स्वामी जी ने इस आन्दोलन में भाग लेना तो शुरू कर दिया, पर उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि आर्यसमाजी उनके इस कार्य से अप्रसन्न हैं। अतः उन्होंने 'सद्धर्म प्रचारक' के माध्यम से अपनी स्थिति स्पष्ट करना आवश्यक समझा। इसी प्रसंग में उन्होंने बम्बई से अपने पुत्र इन्द्र जी को निम्न पत्र लिखा :

(१०)

बम्बई
१५.३.१९.

मेरे प्यारे इन्द्र,

आज प्रातःकाल शरीर ठीक है। हमारा कार्य भी बड़ी उत्तमता से चल रहा है। यहाँ गाँधी जी मिले। मैं कल बोला भी। 'विजय' बाम्बे क्रानिकदल के नाम भेज दिया करो। मि. हानीमैन कल सभा में मिले थे। आज उन्हें कहूँगा कि एक्सचेंज कर लें।

असहयोग-सत्याग्रह के आन्दोलन में मेरे प्रवेश से कुछ आर्यसमाजी घबरा रहे हैं। तुम मेरी ओर से ठीक समझ कर 'सद्धर्म प्रचारक' में लिख दो कि स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी हैं। उनका किसी आर्य संस्था से विशेष सम्बन्ध नहीं उनके सत्याग्रह में शामिल होने के अर्थ नहीं कि आर्यसमाज संस्था रूप में इसमें शामिल है। ऐसे आर्यसमाजी होंगे, जो सत्याग्रह को उचित न समझें। मेंबरों में भी सब, जो कुछ करते हैं।

कुछ भीरु लोग तथा ईर्ष्यालु कुछ का कुछ प्रकट करेंगे। इसलिए तुम जो उचित समझो, नोट लिख छोड़ो।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी
श्रद्धानन्द

एक समय आया जब महात्मा गाँधी का सत्याग्रह-आन्दोलन खिलाफत आन्दोलन का ही अंग बन गया और मुसलमानों का समर्थन प्राप्त करने के उद्देश्य से गाँधी जी उनकी अनुचित मांगों को भी स्वीकार करने लगे, पर स्वामी श्रद्धानन्द जी को उनकी यह नीति पसन्द नहीं आई और उन्होंने इन आन्दोलनों से अपना हाथ खींच लिया तथा सम्बन्धित समितियों से त्यागपत्र भी दे दिया। अब वे चाहते थे कि भारतमाता के उद्धार के लिए हिन्दुओं का एक संगठन बनना चाहिए, पर हिन्दुओं में एकता के अभाव में तथा

पारस्परिक द्वेष-भावना के होते हुए यह संगठन कैसे बने, यही समस्या उन्हें उद्विग्न कर रही थी। इसी समय उन्होंने एक पत्र भी इन्द्र को लिखा, जो निम्न प्रकार है :

ओ३म्
(११)

अकोला
१४.१.२२

मेरे प्यारे इन्द्र,

इस पत्र के साथ मुसलमान नेताओं की अपील तुम्हारे पास भेजता हूँ। इसे ध्यान से पढ़ना। अहमदाबाद में सब्जेक्ट कमिटी की बैठक में प्रश्न हुआ था कि गाँधी जी को मुसलमानों के महजवी मामलों में दखल देने का अधिकार न होगा। उस समय मैंने पूछा था कि हिन्दू-सिक्खादि का कोई जिक्र क्यों नहीं? मैं जो अपील भेजता हूँ, इससे मालूम होता है कि मुसलमान भारतवर्ष और हिन्दुओं को केवल अपनी जत्थादारी की दृढ़ता का एकमात्र साधन बनाना चाहते हैं। उनके लिए भारतमाता पीछे और इस्लामी कल्चर पहले है। क्या हिन्दुओं को अपना संगठन न करना चाहिए। साधारण हिन्दू तो एक-एक से जुदा है। इसलिए यदि कुछसंगठन हो सकता था तो वह केवल आर्यसमाज की ओर से। परन्तु यहाँ भी द्वेषाग्नि ने सारे प्रभाव को भस्म कर रखा है। फिर भी आर्य पथ से जुदा यदि कोई संगठन हो तो शायद कुछ बन सके। इस पर विचार करने तथा इतिहास का कार्य आरम्भ करने की विधि विचारने के लिए मैं दिल्ली और कुरुक्षेत्र से होता हुआ १ या २ फरवरी को काँगड़ी पहुँचूँगा। आशा है कि तुम वहाँ मिलोगे।

१५ को यहाँ का कार्य समाप्त होगा। १६ को अमरावती, १७ को अकोट और १८ को यहा। से चलकर १६ जनवरी की रात को देहली पहुँचूँगा।

तुम्हारा मंगलाभिलाषी
श्रद्धानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द जी सन् १६२२ में गुरु-का-बाग सत्याग्रह के सिलसिले में मियाँवाली जेल गए थे। सशरीर तो वे जेल में थे, पर मन से वे आर्यसमाज के इतिहास के लेखन, कन्या गुरुकुल की स्थापना, दलित जातियों के उद्धार ओर ब्रह्मचर्य के प्रचार आदि कार्यों के लिए चिन्तित थे, इस बात की पुष्टि उनके निम्न पत्र से होती है :

ओइम्
(१२)

मियाँ वाली जेल
६.१२.२२

मेरे प्यारे इन्द्र,

तुम्हारा २ दिसम्बर का पत्र मिला। कुंजी बीच में थी। चेकबुक का सन्देश भी अभी मिला है। ट्रंक तथा चेकबुक मुझे शाम तक मिल जाएँगे। अब अन्य वस्तुओं की आवश्यकता तो न थी, परन्तु जो आ गई है उन्हें रख लूंगा।

२. तुम्हारे आने की कोई आवश्यकता नहीं। यहाँ के शान्त जीवन में बाहर के समाचारों से बाधा डालना नहीं चाहता।

३. मेमोरियल हॉल की रजिस्टरी हो जाएगी यह सुनकर प्रसन्नता हुई।

४. तुम इतिहास का दूसरा भाग चलाओ, मैं अपनी आटोबायोग्राफी उस समय तक कल रात समाप्त कर चुका हूँ, जहाँ तक उर्दू में छपी थी। आज उससे आगे चला रहा हूँ। सं. १८८४ ई. तक समाप्त कर लूं तो आगे हिन्दी प्रचारक में छपी "कुछ आपबीती कुछ जगबीती" जोड़ी आएगी। उससे पीछे यदि यहाँ कुछ भाग प्रचारक के मंगाने दिए गए तो यहाँ लिखूँगा। अन्यथा वहाँ पहुँच कर लिखूंगा। यह काम भी हो जाए तो अच्छा है।

५. इससे अतिरिक्त गुरुकुल का इतिहास और उसके उद्धेश्य अपनी दृष्टि से यहाँ ही लिखूँगा।

६. पुराने और अन्दर के नए अनुभवों से मुझे निश्चय हो गया है कि मुझे अपनी सारी शक्ति दलित जातियों के उद्धार और ब्रह्मचर्य के प्रचार में लगा देनी चाहिए। यदि यहाँ ही जीवन समाप्त हुआ तो अन्तिम इच्छा यही होगी कि तुम भारतवर्ष में जन्म लेकर शेष सेवा द्वारा अपनी निर्बलताओं का प्रायश्चित करूँ। परन्तु यदि जीवन बाकी है तो फिर शेष जीवन इसी में लगेगा।

७. सेठ रग्घूमल जी को कहना कि यदि मेरे बाहर आने पर उन्होंने कन्या गुरुकुल के लिए इमारत का रुपया एकदम दे दिया तो ६ महीनों में भारतवर्ष का एक चक्कर लगाने के पीछे उसी की पूर्ति के लिए सारा बल लगा दूँगा।

८ सेठ जी, महाशय यमुनादास जी और डॉक्टर जी को नमस्ते कहना। लाला ज्ञानचंद्र आदि सब महाशयों को नमस्ते! देवियो को आशीर्वाद, बच्चों का प्यार।

मेरे पत्र रखते जाना। जो पत्र भेजोगे मुझे पहुँच जाएँगे।

मैं अगला पत्र जनवरी १६२३ को लिखूँगा।

परिशिष्ट-५

महात्मा गांधी के पत्र इन्द्र के नाम

आषाढ़ सुदी १४ (१५ जुलाई, १९२४)

भाई इन्द्र,

तुमारा खत मिल। मैंने थोड़ा-सा लिखा उसके बाद तुमारा खत पहोंचा। लेकिन मैंने कोई ऐसी बात नहिं लिखी है जिससे किसी को हानि पहोंचे। मेरी उमीद है कोई अब कचेरी में नहिं जाएँगे। मामला तो शान्त हो गया होगा।

मोहनदास के आशीर्वाद

श्री इन्द्र विद्यावाचस्पति

'अर्जुन' ऑफिस

दिल्ली

मूल पत्र (जी.एन. ७१८८) तथा सी.डब्ल्यू. ४८५७ से।

सौजन्य : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

पत्र : इन्द्र विद्यावाचस्पति को

श्रावण सुदी १३ (१३ अगस्त, १९२४)[1]

चि. इन्द्र,

"इस समय प्रत्येक उत्सव पर मैं तो एक ही प्रर्थना करता हूँ। हे ईश्वर, हिन्दू और मुसलमान दोनों के हृदय के हृदय को पलटा दे। उसमें से झहर नीकाल दे। प्रेम भर दे। सबको समझा दे देश के गरीबों के लिए वे सूत कातें। हिन्दू के दिलों का साफ कर और अस्पृश्यता का नाश कर।" और क्या भेजूं? मेरी उमेद है तुम्हारा प्रयत्न सफल होगा।

मोहनदास के आशीर्वाद

मूल पत्र (सी.डब्ल्यू २८६०) से।

सौजन्य : चन्द्रगुप्त विद्यालंकार।

१. डाकखाने की मुहर से।

पत्र : इन्द्र विद्यावाचस्पति को

(२४ दसम्बर, १९२६)[1]

स्तब्ध कर देनेवाला तार मिला। पिता जी को तो वीरगति मिली है।

हिन्दी नवजीवन

६.१.१९२७

१. महादेव देसाई ने अपने 'गौहाटी का पत्र' में लिखा है कि वह तार गाँधी जी ने स्वामी श्रद्धानंद के हत्या की खबर सुनने के बाद दिया था।

पत्र : अमृतकौर को पं. इन्द्रविद्यावाचस्पति के त्याग-पत्र के बारे में

१ जुलाई, १९४१

चि. अमृत,

शिमला से भेजा तुम्हारा तार मुझे मिला था और अब दिल्ली से लिखा पत्र मिला है।

तुम्हारे नाम लिखे बालकों वाला पत्र इसके साथ है।

अभी भी बारिश हो रही है। तुम्हारा हिन्दी-लेखन लगभग निर्दोष है।

मेरे इस मुंशी के बारे में कतरनों का एक पुलिंदा है। ये पढ़ने में काफी दिलचस्प है। संभव है कि मैं एक वक्तव्य जारी करूँ।

मैंने नन्दन[1] को प्रोफेसर इन्द्र[2] का त्याग-पत्र स्वीकार करने की सलाह दी है। जितने ज्यादा लोग त्याग-पत्र देंगे उतना ही अच्छा होगा। इससे वातावरण साफ हो जाएगा।

सप्रेम,

बापू

मूल अंग्रेजी (सी.डब्ल्यू. ४०२६) से; सौजन्य : अमृतकौर।

सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, पृ. १५१।

१. रघुनन्दन शरण, दिल्ली प्रदेश कांग्रेस कमेटी के अध्यक्ष; देखिए 'पत्र : रघुनन्दन शरण को', १६-७-१९४१ के पूर्व और 'वक्तव्य : समाचार पत्रों को' ५-८-१९४१ भी।

२. प्रो. इन्द्र विद्यावाचस्पति, स्वामी श्रद्धानन्द के पुत्र।

पत्र : इन्द्र विद्यावाचस्पति को, मौन के बारे में

जुहू

२३ मई, १९४४

चि. इन्द्र,

दिल चाहे तब आओ। लेकिन आजकल की मुसाफरी की कठिनाई में सिर्फ देखने के लिए तकलीफ क्यों उठाना? मेरा मौन चलता है। २१ ता. को खुलेगा।

बापू के आशीर्वाद

पत्र की फोटो-नकल (जी.एन. ७२०६) से। सी.डब्ल्यू. ४८६४ से भी;

सौजन्य चन्द्रगुप्त विद्यालंकार

स्रोत : सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, पृ. ३०५।

पत्र : इन्द्र विद्यालंकार को : अहिंसा से स्वराज्य प्राप्ति के बारे में

साबरमती आश्रम
२३ मई, १९२६

प्रिय इन्द्र,

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने अंग्रेजी में लिखना पसन्द किया, सो मैं जबाव भी अंग्रेजी में ही दे रहा हूँ। मगर तुमने अंग्रेजी में लिखा क्यों? मैंने जो वादा किया था कि १९२१ में स्वराज्य मिल जाएगा, वह एक शर्त के साथ किया था। शर्त थी जन-साधारण द्वारा अहिंसात्मक असहयोग का पूर्णतः स्वीकार करना। वीरमगाँव, बम्बई[2] और चौरी-चौरा[3] में उन शर्तों को जन-साधारण ने नहीं, बल्कि कांग्रेस के जाने-माने अनुयायियों ने तोड़ा था। जिसे वर्तमान परिस्थिति का राजनीतिक पहलू कहा जाता है, उसके बारे में आज अगर चुप हूँ तो इसलिए चुप हूँ कि अपेन मौन के द्वारा मैं लोगों को अहिंसा का सन्देश दे रहा हूँ। राष्ट्र का मानस आज जिन अनेक विवादग्रस्त प्रश्नों से परेशान हो रहा है, उनके सम्बन्ध में काम की कोई बात कहने की स्थिति में नहीं हूँ। और अगर मैं मौके-बेमौके बार-बार चरखे की ही बात करता रहता हूँ तो उसका भी कारण यही है। मेरे लेखे चरखा अहिंसा का मूर्तरूप है, क्योंकि अहिंसा का मतलब कर्म-सच्चे अर्थ में कर्म—है, जबकि हिंसा का मतलब दुष्कर्म या कर्महीनता है।[4] अगर लोग अहिंसात्मक तरीके से स्वराज्य चाहते हों तब तो उसका उपाय विदेशी कपड़ों का पूर्ण बहिष्कार और चरखे तथा उसके सार फलितार्थों को अंगीकार करना ही है। मुझे आशा थी कि स्वराज्य प्राप्ति के लिए निर्धारित अवधि अर्थात् १९२१ के वर्ष में जनता को चरखे की भावना एकाएक ओर व्यापक रूप से फूटे पड़ेगी और उसके परिणांमस्वरूप हम विदेशी वस्त्र के बहिष्कार का कार्य सम्पन्न कर देंगे। लेकिन वह होने को नहीं था और अब हमें जनता के बीच चरखे का वातावरण तैयार करना है। मैं नहीं समझता कि चरखे का घर-घर प्रवेश करने में उतना समय लगेगा, जितना तुम सोचते हो लेकिन अगर लगे तो अहिंसा की भावना के प्रचार की दृष्टि से मैं चरखे के अलावा किसी अन्य साधन या प्रवृत्ति की बात सोच ही नहीं सकता हूँ।

मुझे लगता है कि तुम मुझस अपने प्रश्न के सार्वजनिक उत्तर की आशा रखते हो, क्या तुम सचमुच सार्वजनिक उत्तर चाहते हो मगर पूछे तो तुम्हारे उठाए प्रश्न पर दूसरों के साथ बातचीत करने या 'यंग इण्डिया' में उस पर कुछ विचार करने की अपेक्षा तुम्हें ही अपनी स्थिति का औचित्य समझाने की ज्यादा फिक्र है।

हृदय से तुम्हारा,

श्रीयुत इन्द्र विद्यालंकार सरगोधा

अंग्रेजी प्रति (एस.एन. १९६७) की फोटो-नकट से। सम्पूर्ण गाँधी वाङ्मय, पृ. ५१३।

डा. राजेन्द्र प्रसाद जी का पत्र इन्द्र के नाम

Government House,
New Delhi,
6 March, [illegible]

My dear [illegible],

I write to convey to you and the Staff and students of the Gurukul Kangri University my thanks and appreciation for the excellent arrangements which were made in connection with the Convocation Celebrations of the University yesterday. I was greatly impressed with the orderliness and discipline which prevailed among the huge crowds who had assembled to welcome me on the occasion. This reflects great credit to all those connected with this Institution, to whom I send my very best wishes for the future.

Yours sincerely,

[illegible signature]

Professor Indra Vidyavachaspati,
Vice-Chancellor, Gurukul Kangri University.

श्रीमती विद्यावती धर्मपत्नी पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति व पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति

वक़ील से बलिदान तक विविध
रूपों एवं अवसरों में

श्री मुंशीराम वकील
(सन् १८८६ में)

वकील की
वेशभूषा में
लाला मुंशीराम

लाला मुंशीराम
(सन् १८६४ में)

महात्मा मुंशीराम गुरुकुल में
आचार्य के वेश में

गुरुकुल के आचार्य एवं मुख्याविष्ठाता
के रूप में (सन् १९१० में)
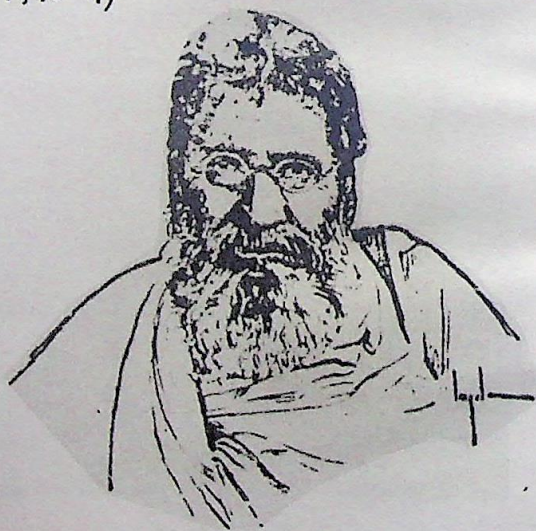
महात्मा मुंशीराम जिज्ञासु

सन् १६१३ में गुरुकुल के प्राध्यापको के साथ

बाईं ओर से बैठे हुए : प्रो॰ महेशचरण सिन्हा, प्रो॰ रामदेव, महात्मा मुंशीराम, प्रो॰ बालकृष्ण और आचार्य सूर्यदेव
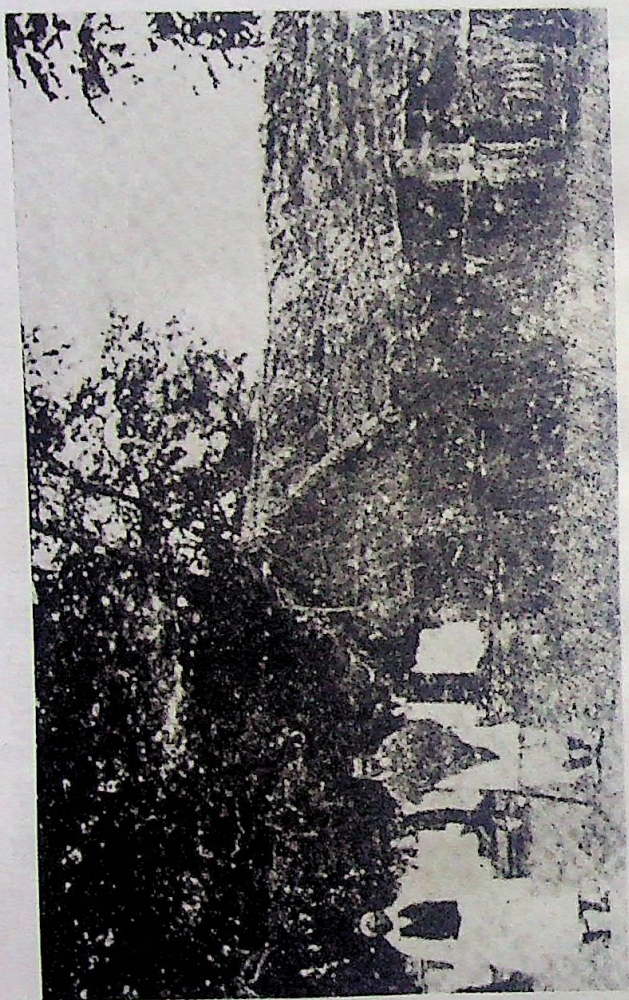
गुरुकुल में सर्वप्रथम (सन् १६०२ में) बनी कुटिया के बाहर
अपने भण्डारी जी के साथ

गुरुकुल में वायसराय लार्ड
चम्सफोर्ड के साथ
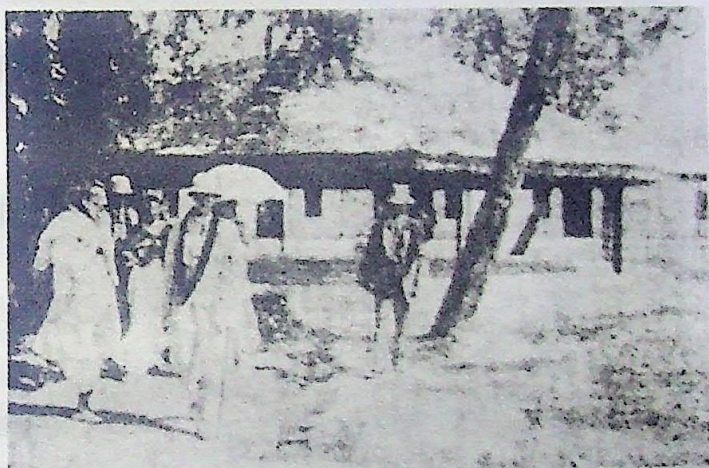
महात्मा मुंशीराम जी वायसराय से बातचीत कर रहे हैं।
सर जेम्स मेस्टन कुछ पीछे की ओर हैं।

संन्यासाश्रम-प्रवेश से एक दिन पूर्व
(११ अप्रैल १६१७ को)

संन्यासाश्रम-प्रवेश के दिन
स्वामी श्रद्धानन्द संन्यासी

संन्यासाश्रम–प्रवेश–यज्ञ के समय यज्ञवेदी पर
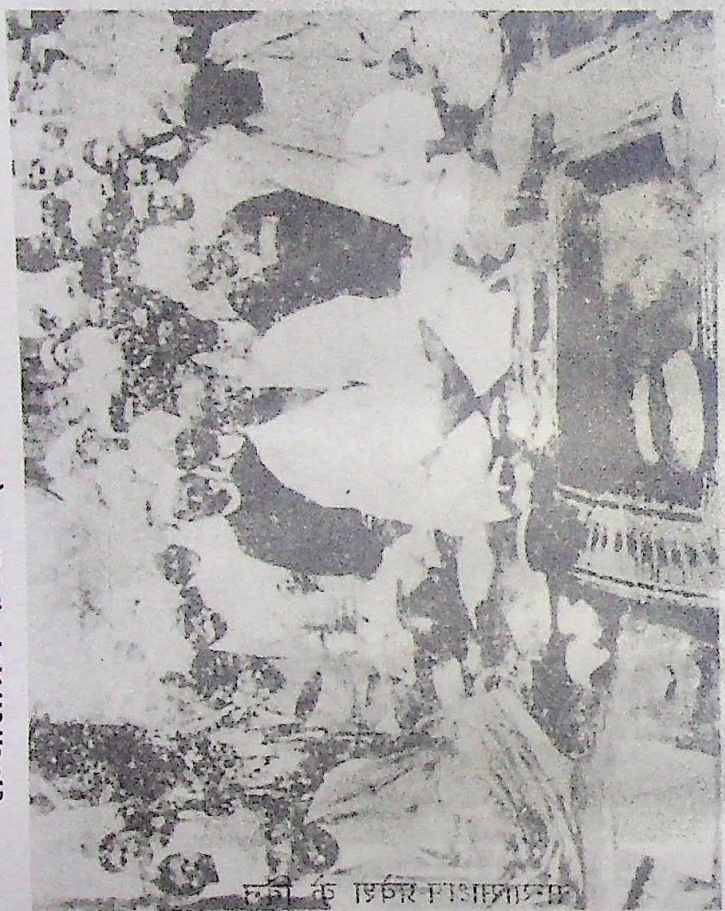
स्वामी सत्यानन्द, श्री जुगलकिशोर बिड़ला, आचार्य सूर्यदेव.
लाला लब्भूराम नैयर तथा अन्य आर्यजनों के साथ

सन्यासाश्रम प्रवेश संस्कार के समय
पानी में खड़े होकर बाल तोड़ने
की विधि सम्पन्न करते हुए

अप्रैल १६२४ में मद्रास-प्रांत की
घर्मयात्रा के दौरान

बाईं ओर से सर्वश्री आर० नटसन, प० केशवदेव
ज्ञानी सिद्धांतालंकार, काहनचन्द वर्मा,
सेवक धर्मसिंह, जेठाभाई

स्वामी जी अपने साथियों के साथ

बाएं से दाएं प० पूर्णानन्द महोपदेशक, लाला रामकृष्ण (प्रधान आ० प्र० सभा पंजाब), लाला लब्भूराम नैयर, डॉ० श्यामस्वरूप, श्रीपाद दामोदर सातवलेकर प० सूर्यदेव

बलिदान के बाद अमरशहीद स्वामी श्रद्धानन्द

स्वामी श्रद्धानन्द
के कुटुम्बीजन

लाला नानकचन्द
(पिता)

बेठे हुए पिता लाला
नानकचन्द; खड़े हुए
बाई से दाई ओर को बड़े
भाई लाला आत्माराम,स्वयं
लाला मुंशीराम (मुख्तार)
तथा भतीजा रामनाथ

बैठे हुए-लाला मुंशीराम तथा कनिष्ठ पुत्र इन्द्र
खड़े हुए-पुत्री वेदकुमारी तथा ज्येष्ठ पुत्र हरिश्चन्द्र

बेठे हुए-श्री मुंशीराम जी की भाभी, पुत्र हरिश्चन्द्र और इन्द्र
खड़े हुए-पुत्री अमृतकला, वेदकुमारी और पोषिता कन्या सुमित्रा

हरिश्चन्द्र विद्यालंकार
(ज्येष्ठ पुत्र)

इन्द्र विद्यावाचस्पति
(कनिष्ठ पुत्र)

श्रीमती वेदकुमारी
(ज्येष्ठ पुत्री)

श्रीमती चन्द्रावती
(पुत्र वधू पत्नी श्री इन्द्र)

डॉ॰ सुखदेव
(दामाद)

जयन्त वाचस्पति
(पौत्र)

रोहिताश्व
(पौत्र, पुत्र श्री हरिश्चन्द्र)

(बाईं ओर) श्रीमती स्वर्णलता
तथा कौशल्या (दाई ओर)
दोहित्री
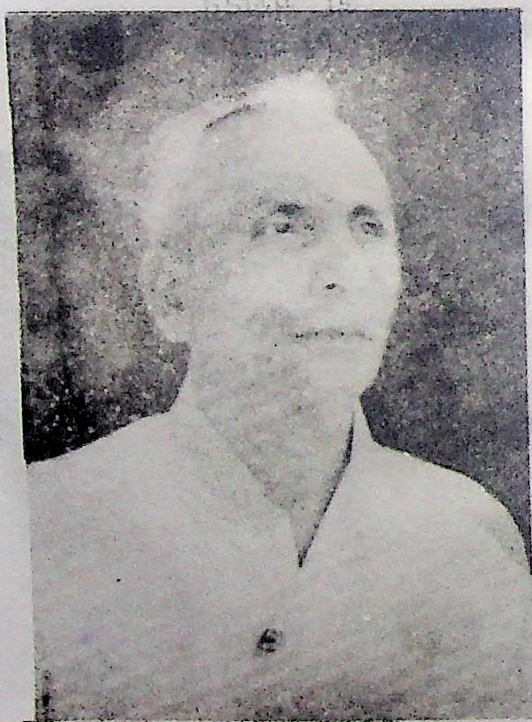
सत्यकाम विद्यालंकार
(दौहित्र)
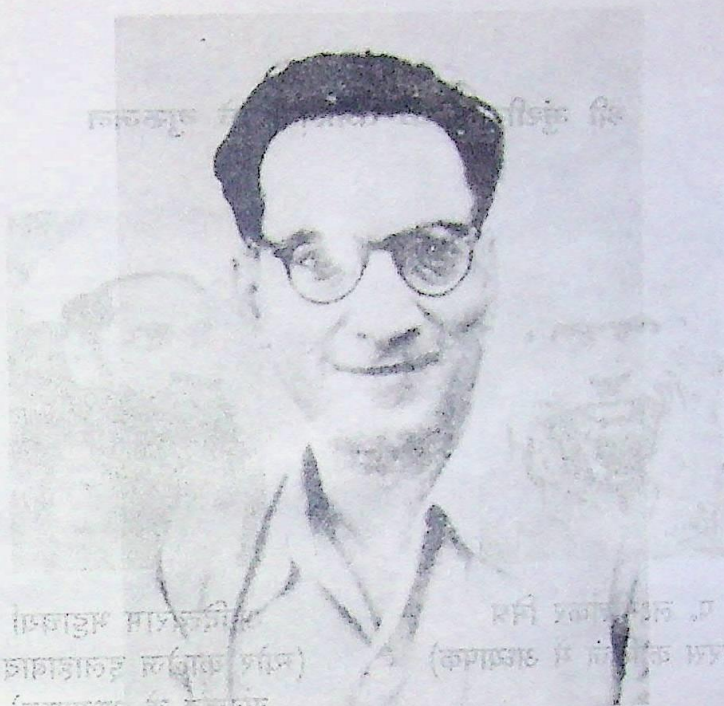
श्री चन्द्रगुप्त विद्यालंकार
(दौहित्री श्रीमती स्वणलता के पति)

अर्जुनदेव विद्यालंकार
(दौहित्री श्रीमती उषा के पति)

धर्मवीर विद्यालंकार
(पौत्री पुष्पा के पति)

श्री मुंशीराम के कॉलिज के गुरुजन

प॰ लक्ष्मीशंकर मिश्र
(बनारस कॉलिज में अध्यापक)

आदित्यराम भट्टाचार्या
(म्योर कालेज इलाहाबाद में संस्कृत के अध्यापक)

सहपाठी

प॰ अम्बिकादत्त व्यास

प॰ मोतीलाल नेहरू

महात्मा मुंशीराम के अभिन्न मित्र

पंडित गुरुदत्त

आर्यपथिक पं० लेखराम

दोनबन्धु सी. एक एण्ड्रूज

महात्मा गाँधी

गुरुकुल–वाटिका के प्रथम पुष्प

इन्द्र विघावाचस्पति एवं हरिश्चन्द्र विद्यालंकार

बरेली का ऐतिहासिक भवन (टाउन हाल)
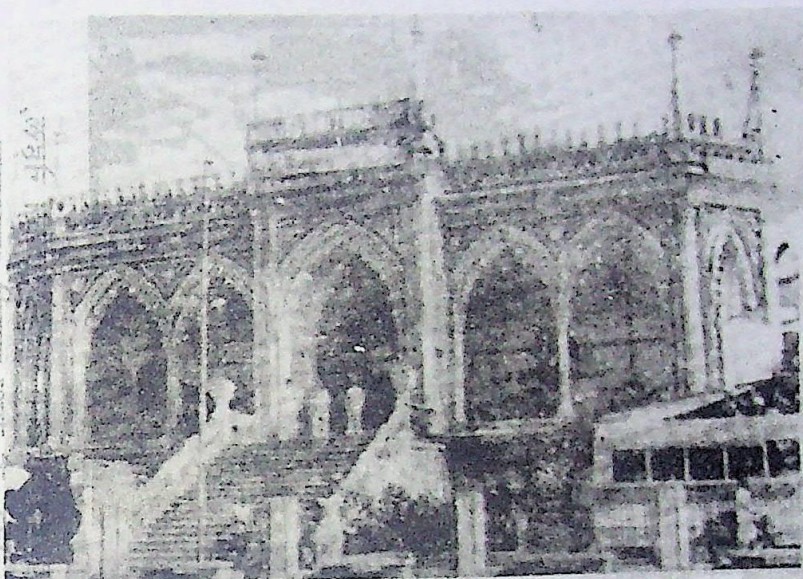
जहाँ युवक मुंशीराम का महर्षि दयानन्द से प्रथम सत्संग हुआ। परिणामतः वे अन्धकार से ज्योति की ओर प्रवृत हुए।

पुण्यभूमि के भवन
जो अतीत का स्मरण कराते हैं
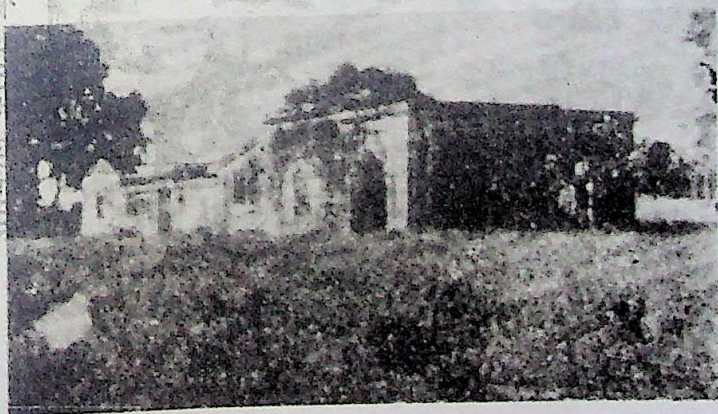
वह कुटी, जिसमें महात्मा गाँधी ३ बार ठहरे

अमृतसर कांग्रेस के प्रतिनिधि १६१६-लोकमान्य तिलक प० मोतीलाल नेहरू, श्रीमती एनीबेसेंट, प० जवाहरलाल नेहरू के साथ स्वामी श्रद्धानन्द

एक उन्नत-काय, दर्शनीय मूर्ति (प्रभावपूर्ण सौन्दर्य की प्रतिमा) हम से भेंट करने आती है। आधुनिक सम्प्रदाय का कलाकार ईसा की प्रतिकृति घड़ने के लिए आदर्श के रूप में इसका स्वागत करता है और मध्याकालिक रुचि का चित्रकार इसमें सन्त पीटर का रूप देखता है। महात्माजी हमें नमस्कार करते हैं और हम उनके अभ्रक-जटित 'ओ३म्' नाम से अलंकृत सादी साज-सज्जा वाले कमरे में प्रवेश करते हैं। मुझे दिये गये कमरे में शुभ्र वस्त्र से ढकी मेज पर उज्ज्वल वर्ण की पत्तियों से मिश्रित लाल फूलों से भरे दो गुलदस्ते रक्खे हुए हैं। किसी अतिथि को कभी इससे अधिक मनोहर कोठरी नहीं मिली। एक सेवक हमारे हाथों पर पानी डालता है और हमें एक अगोछा देता है। जूते बाहर कर हम एक कमरे में प्रवेश करते हैं, जहाँ भोजन परोसा गया है। महात्माजी भोजन से पूर्व प्रार्थना करते हैं, हमारा मस्तक नत हो जाता है। मैंने अनेक प्रार्थनाएँ सुनी हैं, पर ऐसी कभी नहीं सुनी थी। हमारे यजमान की संस्कृत स्वरों पर तुल देती हुई घन—गम्भीर वाणी पापशुद्धि के आभार सम्बन्धी संगीत का पूरा-पूरा अनुकरण कर रही है।

भोजन समाप्त होता है और हम शिक्षणालय की परिक्रमा करने को निकलते हैं। सर्वत्र सुव्यवस्था और प्रसन्नता है। उज्ज्वल चमकीले नयनों वाले बालबटु और प्रशान्त मुद्रा वाले बड़े कुमार, कहीं मिट्टी में खिलौने बनाते हुए, कहीं मिलकर अपना पाठ दुहराते हुए, कहीं श्लोक-पाठ करते हुए और कहीं अपने गुरुओं के व्याख्यान सुनते हुए (क्योंकि गुरुकुल में व्याख्यान द्वारा ही अधिकृत अध्यापन होता है) श्रेणियों में बैठे हैं। विद्यालय समाप्त होता है। तुरन्त ही ब्रह्मचारियों का बड़ी उमंग से क्रीड़ा क्षेत्र की ओर धावा प्रारम्भ होता है। प्रत्येक छात्र गुजरता हुआ अपने आचार्य के पावों में झुककर और अंजलिबद्ध हाथों को उठाकर अभिवादन करता है।

[श्री रेम्जे मैकडॉनल्ड, ब्रिटिश प्रधानमंत्री
के गुरुकुल यात्रा संस्मरण]

मैं और मुंशीरामजी सहपाठी थे। हमारे सम्बन्ध बहुत ही ममतापूर्ण थे। वे जब बोलते या लिखते थे तब शब्द बहुत तौल-तौल कर इस्तेमाल करते थे। वे किसी से डरते नहीं थे। उन्होंने देश सेवा की थी और वे गम्भीर जोखिमें उठाते थे। वे विधवा—विवाह के पक्ष में थे। उनकी मृत्यु और हत्या से मुझे सख्त आघात लगा है। ऐसे मामलों में बदला लेने का कोई अर्थ नहीं है। अलबत्ता खूनी को उचित दण्ड मिलेगा, परन्तु हम इतने से सन्तोष न करें। उनकी मृत्यु से झगड़ालू मानस वाले पाठ लें, अपनी-अपनी दुश्मनी भूल जायें और एक हो जायें।

—पं. मोतीलाल नेहरू

स्वामी श्रद्धानन्दजी की याद आते ही १९१९ का दृश्य मेरी आँखों के सामने खड़ा हो जाता है। सरकारी सिपाही फायर करने की तैयारी में है। स्वामीजी छाती खोलकर सामने जाते हैं और कहते हैं, 'लो, चलाओ गोलियाँ।' उनकी उस वीरता पर कौन मुग्ध नहीं हो जाता ? मैं चाहता हूँ कि उस वीर संन्यासी का स्मरण हमारे अन्दर सदैव वीरता और बलिदान के भावों को भरता रहे।

—सरदार वल्लभ भाई पटेल

श्री स्वामी श्रद्धानन्द अनुसन्धान प्रकाशन केन्द्र के प्रकाशन

पुस्तक	लेखक / सम्पादक	मूल्य
स्वामी श्रद्धानन्द (शताब्दी संस्करण)	पं. सत्यदेव विद्यालंकार	500.00
वेद का राष्ट्रीय गीत	वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति	200.00
श्रुतिपर्णा	डॉ. विष्णुदत्त राकेश	95.00
वैदिक साहित्य, संस्कृति और समाजदर्शन	डॉ. विष्णुदत्त राकेश	500.00
वेद और उनकी वैज्ञानिकता भारतीय मनीषा के परिप्रेक्ष्य में	वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति	400.00
शोध सारावली	सम्पादित	220.00
भारत वर्ष का इतिहास *(तीन खंडों में)*	आचार्य रामदेव	1200.00
Classical Writings on Vedic & Sanskrit Literature	*Dr. Suryakant Shrivastava* *Dr. Jagdish Vidyalankar*	800.00
दीक्षालोक (शताब्दी संस्करण)	सं. डॉ. विष्णुदत्त राकेश; डॉ. जगदीश विद्यालंकार	500.00
स्वामी श्रद्धदानन्द *(समग्र मूल्यांकन)*	डॉ. रणजीत सिंह	300.00
पं. इन्द्र विद्यावाचस्पति कृतित्व के आयाम	डॉ. कुशलदेव शंकरदेव कापसे	300.00
स्वामी श्रद्धानन्द के सम्पादकीय लेख	सं. डॉ. विष्णुदत्त राकेश; डॉ. जगदीश विद्यालंकार	500.00
कुलपुत्र सुनें	सं. डॉ. विष्णुदत्त राकेश; डॉ. जगदीश विद्यालंकार	300.00
स्वामी श्रद्धानन्द की सम्पादकीय टिप्पणियाँ	सं. डॉ. विष्णुदत्त राकेश; डॉ. जगदीश विद्यालंकार	450.00
Contemporary Socio-Political observation of Swami Shraddhananda	*Editor, Dr. K. A. Agarwal*	250.00
श्रुति विचार सप्तक	सं. डॉ. विष्णुदत्त राकेश; डॉ. जगदीश विद्यालंकार	500.00
हिंदी काव्य को आर्यसमाज की देन	डॉ. भवानीलाल भारतीय	400.00
गुरुकुल काँगड़ी विश्वविद्यालयीयम्	डॉ. हरिनारायण दीक्षित	90.00
मेरा धर्म	वेदमार्तण्ड आचार्य प्रियव्रत वेदवाचस्पति	500.00
Editorial Observation of Swami Sharaddhananda	***Editor, Dr. K. A. Agarwal*** ***Dr. Jagdish Vidyalankar***	500.00
महात्मा गांधी और गुरुकुल	प्रो. स्वतंत्र कुमार डा. जगदीश विद्यालंकार	500.00
कल्याण मार्ग का पथिक	स्वामी श्रद्धानन्द	200.00